पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 35 जुलाई-अगस्त 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

सहायक संपादक

जयपाल सिंह

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 35 जुलाई-अगस्त 2011

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© संबंधित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक ₹ 145 रु. और द्वैवार्षिक ₹ 265। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केंद्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017
टेली-011-26677365 e-mail : editor.pustakvarta@gmail.com
011-41683875 मो.-09313034049 (संपादकीय)

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्मा, एम.ए.	4
उपन्यास	: **जीवन एवं सृजन का द्वंद्व**/ सुभाष शर्मा	6
	: **सामूहिकता व मैत्री का इंद्रधनुष**/ महावीर अग्रवाल	10
कहानी	: **अतीत की सुरंग के पार**/ केवल गोस्वामी	13
कविता	: **मानवतावादी अनुभूतियों का नाद**/ ज्ञानप्रकाश विवेक	14
	: **स्त्री की अदम्य खोज**/ अरुण अभिषेक	17
	: **गवाक्ष खोलती कविताएं**/ अरुण नारायण	18
	: **जीवन के रूप, रंग और गंध की कविता**/ हीरालाल नागर	20
आलोचना	: **मनुष्य के लिए जीने और मरनेवाले कवि : मैथिलीशरण गुप्त**/ भारत यायावर	22
	: **मोहन राकेश : शेष : अशेष**/ गंगाप्रसाद विमल	24
	: **तराशे मजमून की खुशबू**/ कांतिकुमार जैन	27
	: **भारतीय साहित्य की पहचान : सिसृक्षा का समतोल बिंदु**/ रामशंकर द्विवेदी	30
डायरी	: **विरल एवं विलक्षण दस्तावेज**/ रणजीत साहा	32
संस्मरण	: **हमने स्मृतियों के दीप जलाए**/ सत्यकेतु सांकृत	36
स्मरण	: **डॉ. चंद्रभूषण तिवारी : कुछ यादें, कुछ रचना-प्रसंग**/ रामनिहाल गुंजन	39
नेपथ्य	: **रेत : कभी रेगे-रवां से प्यास बुझ जाती है रहरौ की**/ भगवानदास मोरवाल	41
नाटक	: **नुक्कड़ नाटक की नटकही**/ मनोज मोहन	44
स्त्री-विमर्श	: **स्त्री-लेखन : कृष्णपक्ष बनाम शुक्लपक्ष**/ प्रवीण कुमार	45
सात समुंदर पार	: **तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' का अंतर्पाठ**/ साधना अग्रवाल	47
इतिहास	: **शहीदे आज़म भगत सिंह**/ राजकुमार सैनी	49
समय-जुलाहा	: **शमशेर-लीला और मुक्तिबोध**/ कुबेर दत्त	51
श्रद्धांजलि	: **ठहर गयीं रेखाएं**/ इक़बाल रिजवी	53
हस्तक्षेप	: **आतंकवाद : अमेरिका और पाकिस्तान की संधि रेखा**/ अनंत विजय	55

संपादकीय

साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्मा, एम.ए.

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[इस बार फिर संपादकीय की जगह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जनवरी, 1913 की 'सरस्वती' में प्रकाशित यह संपादकीय टिप्पणी दी जा रही है। इसे हजारीबाग (झारखंड) से भेजते हुए भारत यायावर ने निम्न सूचना दी है :

महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह असंकलित संपादकीय टिप्पणी है। 'महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली' में 'सरस्वती' की कुछ ही संपादकीय टिप्पणियां संकलित की गई हैं, शेष असंकलित हैं। 'सरस्वती' में संपादकीय टिप्पणियां 'विविध विषय' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित होती थीं। हर अंक में अनेक विषयों पर अनेक टिप्पणियां एक साथ छपती थीं। अब जनवरी, 1913 की 'सरस्वती' के 'विविध विषय' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित होने वाली टिप्पणियों को देखें–1. साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्मा, 2. विलायती विद्वानों का नीति-नैपुण्य, 3. विक्रम-संवत्-संबंधिनी समस्या, 4. तुलसीदास की रामायण की इटली में समालोचना, 5. भारत में संस्कृत-शिक्षा का ह्रास, 6. व्योम-यान द्वारा विलायत से भारत, 7. त्रिकालदर्शी (!) मिस्टर लेडबीडर, 8. संयुक्त-राज्य (अमेरिका) के नए प्रेसीडेंट, 9. माननीय गोखले महाशय का विलायत से प्रत्यागमन, 10. प्रयाग-विश्वविद्यालय के जलसे में लाट साहब की वक्तृता, 11. रावबहादुर लाल-शंकर उमिया-शंकर का शरीरयात, 12. पृथ्वी की प्राचीनता, 13. श्रीयुत सखाराम गणेश देउसकर का परलोक-गमन, 14. जबलपुर में कांच का कारखाना, 15. हिंदी-साहित्य की उन्नति के उपाय, 16. साहित्य-सम्मेलन, 17. बीकानेर में नर्त्तकाचार्य पंडित गिरिधारीलाल तिवारी। नवंबर, 1912 की 'सरस्वती' से रामावतार शर्मा की एक पूरी पुस्तक धारावाहिक रूप में आचार्य द्विवेदी प्रकाशित कर रहे थे।

पुस्तक का नाम था–'भूगर्भविधा'। जनवरी, 1913 की 'सरस्वती' में इस पुस्तक की तीसरी किस्त 'पार्थिव वस्तुओं में परिवर्तन' शीर्षक से छपी है। ऐसे वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वाले तब आचार्य द्विवेदी के बाद इकलौते हिंदी लेखक रामावतार शर्मा ही थे। इस अंक में उनके व्यक्तित्व पर उन्होंने अपनी संपादकीय टिप्पणी लिखी और उनकी तस्वीर भी प्रकाशित की। यह ज्ञातव्य है कि तब उनके सुयोग्य एवं सुख्यात पुत्र नलिन विलोचन शर्मा का जन्म भी नहीं हुआ था। 98 वर्ष पहले लिखा यह हिंदी गद्य का एक दुर्लभ अंश है।

आचार्य द्विवेदी किसी नई प्रतिभा से प्रभावित होते थे, तब उस पर संस्कृत में श्लोक लिखते थे। यहां भी अंत में उन्होंने शर्मा जी की प्रशंसा में चार पंक्तियां लिखी हैं।]

साहित्याचार्य पंडित रामावतार शर्मा की 'सरस्वती' पर कृपा है। आपके कई लेख अब तक उसमें निकल चुके हैं। एक आजकल भी निकल रहा है। अतएव पाठकों से हम आपका परिचय करा देना चाहते हैं। आप सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। छपरा जिला आपकी जन्म-भूमि है। अल्पवित्त परंतु पंडित पिता के पुत्र हैं। आप चार भाई हैं। सबमें बड़े आप ही हैं। आपका जन्म 1877 ई. का है। आपकी सारी विद्या और सारी शिक्षा एकमात्र आप ही के उत्साह, अध्यवसाय और ज्ञान-लिप्सा का फल है। 10 वर्ष की उम्र में आप काशी आये और महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री, सी.आई.ई. से संस्कृत पढ़ना आरंभ किया। सात वर्ष तक उनसे अध्ययन किया। 17 वर्ष की उम्र में कलकत्ता-संस्कृत कॉलेज की काव्यतीर्थ-परीक्षा पहले वर्ग में पास की। बनारस-संस्कृत कॉलेज में संस्कृत भी आप पढ़ते रहे और अंग्रेजी भी। 19 वर्ष की उम्र में आपने एंट्रेस पास किया। इसके बाद घर ही पर अंग्रेजी का अभ्यास करके, क्रम-क्रम से पंजाब की एफ.ए. और कलकत्ते की बी.ए. तथा एम.ए. परीक्षाएं पास कीं। एफ.ए. की परीक्षा में संस्कृत-योग्यता के उपलक्ष्य में आपको रजत-पदक मिला। बी.ए. में आपने संस्कृत में इतनी पारदर्शिता दिखाई कि आपको एक स्वर्ण-पदक भी मिला और छात्रवृत्ति भी। एम.ए. में आप अद्वितीय हुए। इधर संस्कृत में आप साहित्य के आचार्य भी हो गए। व्याकरण के भी आचार्य ही से हैं; क्योंकि उसके केवल अंतिम खंड की परीक्षा आपने व्यर्थ समझकर नहीं दी। विद्यार्थी दशा में आपने छात्रवृत्ति

और शिक्षण-पुरस्कार ही से अधिकतर अपना खर्च चलाया, घर से बहुत कम सहायता मिलती रही।

पहले आप काशी के सेंट्रल हिंदू कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर हुए। वहां से पटना कॉलेज में इसी पद पर गए। पटना से आप कलकत्ता गए और वहां कुछ काल तक वसु-मल्लिक-वेदांत-व्याख्याता रहे। वहां से फिर पटना लौट आए। इस समय आप पटना कॉलेज ही में संस्कृत के बड़े प्रोफेसर हैं। आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट के सदस्य भी हैं और कई विषयों के प्रश्नपत्रों के रचयिता और परीक्षक भी।

आप संस्कृत में गद्य-पद्य उतनी ही आसानी से लिख-पढ़ सकते हैं, जितनी आसानी से कि हिंदी में। आपने एक नये ही दर्शन की रचना की है। उसका नाम है–परमार्थ-दर्शन। उसका कुछ अंश संस्कृत और अंग्रेजी में प्रकाशित भी हो चुका है। आप वेद, पुराण, कुरान, षड्दर्शन किसी की भी कोई बात, यदि आपकी राय में वह सत्यता से गिरी हुई है, नहीं मानते। आपने 'मुद्गरदूत' नाम का एक अजीब काव्य संस्कृत में लिखा है। वह कालिदास के मेघदूत की 'Parody+ है। उसमें पुराण आदि में वर्णित अलौकिक बातों और मनुष्यातिग शक्तियों की व्यंग्य में हँसी उड़ाई गयी है। आप कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें इस समय लिख रहे हैं। कुछ प्राचीन पुस्तकों का संपादन भी कर रहे हैं। एशियाटिक सोसाइटी के लिए भी आपने एक-आध पुस्तक का संपादन किया है। आप हिंदी में एक विश्वकोश लिखने की तैयारी में हैं। संस्कृत और अंग्रेजी के उद्भट विद्वान होने पर भी हिंदी पर आपका प्रेम होना हतभागिनी हिंदी के लिए बड़े सौभाग्य की बात है।

आप ही इस बार बांकेपुर की भारतीय समाज-संशोधिनी सभा के सभापति थे।

टीम-टाम, कपड़े-लत्ते, वेशभूषा की तरफ आपका जरा भी ध्यान नहीं। कभी बदन पर केवल शाल है, कभी केवल कोट। कभी सिर पर फेल्ट की टोपी है, कभी अंग्रेजी हैट। ध्यान आपका केवल भारत की अविद्या दूर करने और हिंदी-साहित्य को उपयोगी लेखों और पुस्तकों से अलंकृत करने ही की तरफ रहता है। पुराने ढंग के बड़े से बड़े पंडित और शास्त्री आपकी कोटि-कल्पनाएं और शास्त्र-सिद्धांत सुनकर दंग रह जाते हैं। आपके पांडित्य पर धार्मिक विद्वानों को बड़ा आश्चर्य होता है–

यद् विज्ञानविरुद्धमेव निखिलं तव् येन सन्त्यज्यते
वाक्यं स्वीक्रियते न येन वितर्थ शास्त्र-श्रुतीनामपि।
यस्यास्ये परमार्थदर्शनमयी वाणी ननर्त्ताद्भुता
सोऽयं शर्म्मा तनोतु धर्म्म धनिनां रामावतारो बुधः॥

☐ 'पुस्तक-वार्ता' की पृष्ठ संख्या सीमित है यानी 56 पृष्ठ। इन पृष्ठों में ही विभिन्न विधाओं की पुस्तकों की समीक्षा देनी पड़ती है। हमारे आग्रह के बावजूद कई समीक्षाएं लंबी होती हैं, जिनमें आवश्यक काट-छांट करनी पड़ती है, जो विद्वान समीक्षकों को अच्छी नहीं लगतीं। वैसे हम महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर लंबी समीक्षाएं भी छापते ही हैं, फिर भी हमारा निवेदन है कि भविष्य में समीक्षक 1000-1500 शब्दों से अधिक की समीक्षा कृपया न भेजें। पत्रिका में महत्वपूर्ण पुस्तकों पर तीन पृष्ठों की समीक्षा हम छाप पाएंगे।

☐☐ पु.वा. में अयाचित समीक्षा नहीं छपती। लघुकथा, ग़ज़ल और गीत पर केंद्रित पुस्तकों की समीक्षा हम नहीं छापते। एक बार फिर समीक्षकों से मेरा अनुरोध है कि यदि वे किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर समीक्षा लिखना ही चाहते हैं तो हमसे संपर्क कर लें ताकि पुनरावृत्ति न हो सके।

☐☐☐ इस वर्ष हिंदी के चार शीर्षस्थ कवियों–अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की जन्मशती हिंदी-अहिंदी भाषी प्रदेशों के कोने-अंतरे में धूमधाम से मनाई गई, लेकिन दुःख की बात यह है कि इन कवियों के लेखन को उनके जीवन-संघर्ष से जोड़कर हमने नहीं देखा। अनावश्यक और निरर्थक विवाद जरूर खड़ा किया, खासकर अज्ञेय पर 'समयांतर' के संपादक पंकज बिष्ट ने। अज्ञेय की जीवनी डॉ. रामकमल राय ने लिखी थी–'शिखर से सागर तक' और शमशेर की जीवनी उनके अनुज डॉ. तेजबहादुर चौधरी ने लिखी। 'मेरे बड़े भाई शमशेर जी' का उल्लेख किसी ने नहीं किया। 'जनसत्ता' में लक्ष्मीधर मालवीय ने बस संकेत मात्र किया था। हमें लगता है किसी लेखक को पढ़ते वक्त हमें उसके जीवन-संघर्ष, दुःख, करुणा और उसकी त्रासदी को भी सामने रखना चाहिए। छायावाद के शिखर कवि जयशंकर प्रसाद की रचना 'आंसू' की पृष्ठभूमि समझने के लिए हमें कांतिकुमार जैन की पुस्तक 'अब तो बात फैल गई' (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2007) में संगृहीत लेख–'जयशंकर प्रसाद : प्रसाद विमर्श की सागर मुद्रा' पढ़ना पड़ेगा। तभी हम 'आँसू' को सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।

☐☐☐☐ पुस्तक वार्ता के इस अंक से हम 'सात समंदर पार' एक नया स्तंभ शुरू कर रहे हैं, जिसमें प्रवासी हिंदी लेखकों की चुनी हुई कहानियों पर क्रमशः साधना अग्रवाल लिखेंगी। इस स्तंभ का आरंभ लंदन में बसे तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' के अंतर्पाठ से हो रहा है। आशा है, इस स्तंभ से हम प्रवासी हिंदी लेखकों को समकालीन साहित्य से जोड़ सकेंगे। पत्रिका के आगामी अंक में अचला शर्मा की कहानी 'चौथी ऋतु' पर टिप्पणी होगी।

इस बीच प्रसिद्ध रंगकर्मी बादल सरकार और प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक और 'जलेस' के संस्थापक महासचिव प्रो. चंद्रबली सिंह नहीं रहे। सुप्रसिद्ध चित्रकार, भारत के पिकासो मकबूल फिदा हुसेन भी हम सबको छोड़कर चले गए। इन्हें हमारी अश्रुपूरित हार्दिक श्रद्धांजलि।

जीवन एवं सृजन का द्वंद्व

सुभाष शर्मा

सुरेन्द्र वर्मा के नए उपन्यास 'काटना शमी का वृक्ष पद्म पंखुरी की धार से' का शीर्षक कालिदास के एक संस्कृत श्लोक से लिया गया है, जिसका भावार्थ है कि इस संसार में सुख पाने का प्रयास वैसा ही है जैसे पद्मपंखुरी की धार से शमी का वृक्ष काटना, अर्थात् अत्यंत कठिन और असंभव। इस वाक्य का उपयोग इस उपन्यास की प्रतिनायिका राजकन्या प्रियंगुमंजरी ने भावुक होकर किया है कि 'संपूर्ण, समग्र, अविच्छिन्न सुख किसी को नहीं मिलता' (पृ. 468)। दूसरी बात यह है कि इस उपन्यास को लिखने की बजाय 'रचा' गया है—जैसे कविता लिखी नहीं जाती, बल्कि रची जाती है—सो लेखक की जगह संस्कृत की काव्य-परंपरा के अनुकूल प्रासंगिक रूप से यह लिखा गया है : 'कवि सुरेन्द्र वर्मा विरचित'। कहने की आवश्यकता नहीं कि कालिदास ने मेघदूत, रघुवंश, अभिज्ञान शाकुंतल, मालविकाग्निमित्र, ऋतुसंहार, कुमारसंभव आदि को 'विरचित' ही किया था और इस उपन्यास में मेघदूत, ऋतुसंहार आदि के तमाम श्लोकों (हिंदी अर्थ सहित) का उद्धरण प्रसंगानुसार दिया गया है। तीसरी बात यह है कि समर्पण पृष्ठ पर दो उद्धरण दिए गए हैं : डू नॉट इग्नोर माइथोलॉजी', 'इट इज ट्रूअर दैन हिस्ट्री (मिथक शास्त्र की उपेक्षा मत करो। यह इतिहास से ज्यादा सच है)। मार्तंड की एक उक्ति भी दी गई है, 'कविधर्मस्तु न मनुष्यात्म संत्राणमपितु संत्रातव्यताधानमेव, एतदेव कालिदासेनानुस्थीयते' (कवि का धर्म मनुष्य की आत्मा को बचाना नहीं, बल्कि बचाने योग्य बनाना है)। चौथी बात यह है कि इस उपन्यास का अनुक्रम 'उपसंहार' दृश्योच्छ्वास 94क से शुरू होता है, अर्थात् फ्लैशबैक शैली में है तथा इस उपन्यास में कुल पांच खंड तथा 95 दृश्योच्छ्वास हैं, जो संकेत करता है कि संस्कृत नाटकों की परंपरा में यहां अनेक दृश्य हैं, अध्याय नहीं। ये चार सूत्र इस उपन्यास को समझने में काफी सार्थक एवं सहायक हैं।

उपन्यास की शुरुआत फ्लैशबैक शैली में यूं होती है, ''नंदी ग्राम ज्येष्ठ ताप से झुलस रहा था। सूखे वनखंड। वृक्षावली की नंगी शाखाएं। छाल की ऊपरी परत लगभग जली हुई। सूना, धूसर, तप्त आकाश। कदु (भट्ठी) से आते वायु के झोंके।'' इससे स्पष्ट है कि चीजों का ह्रास हो रहा है, मगर तत्सम शब्दों के छोटे-छोटे वाक्य गहन अनुभूति के सूचक भी हैं। यूं मातुल जैसे पात्र के जरिए तद्भव शब्दों का भी काफी प्रयोग है। पहले खंड के पहले दृश्योच्छ्वास का शीर्षक है 'चौथी अग्नि'। इसमें नंदीग्राम में मातुल (अर्थात् कालिदास का मामा) पशुचिकित्सक के रूप में एक बीमार बैल का परीक्षण कर रहा है तथा किसान को उपचार बता रहा है। तभी इरा नामक विद्यार्थी दौड़ती हुई आती है और बताती है कि वह निजी शिक्षक (अर्थात् कालिदास) को ढूंढ़ रही है। सो मातुल कालिदास के कमरे में प्रवेश करता है और वहां का माहौल 'असंतोष, आक्रोश, अधीरता, चिंता, विषाद और क्रोध' की तरंगों से भरा हुआ है। इरा उसे बताती है कि उसने अपनी सहेली सुनंदा को बताया था कि लकड़ी, वृक्ष और समुद्र की अग्नि के अलावा चौथी अग्नि ज्ञान की होती है, जैसा कि कालिदास ने उसे बताया था, मगर सुनंदा प्रमाण मांगती है और कालिदास की अनुपस्थिति में वह प्रमाण कैसे दे? अब इरा को चिंता है कि वह 'पण' (रुपया) हार जाएगी, जबकि मातुल को चिंता हो रही है कि कालिदास के नागा करने के कारण इरा के पिता नारायण नाराज होंगे और पैसा काट लेंगे। सो मातुल कालिदास को खोजने निकले। दूसरी ओर कालिदास को कीर्तिभट्ट भी खोजने लगा, क्योंकि अगले दिन एक कवि गोष्ठी होने वाली है।

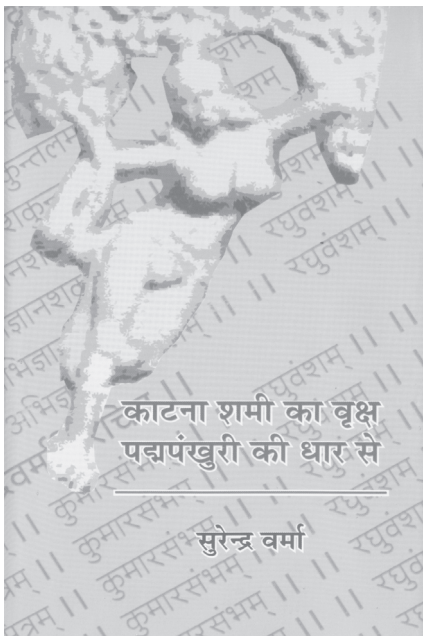

इसके अलावा मुग्धा (सुंदरदास की पुत्री) और कीर्तिभट्ट की बहन पौधों को सींच रही थी, उनसे बातें कर रही थी और उनसे पूछ भी रही थी—कालिदास कहां है? उधर पिंजड़े का तोता मुग्धा से कह रहा था—मुझे हरी मिर्च चाहिए। वह मृगशावक को चारा दे रही थी और नुकीली चीजें नहीं खाने की हिदायत दे रही थी। पीछे से कालिदास उसे देख रहा था। कालिदास को देखने के बाद मुग्धा ने आसन से 'ऋतुसंहार'

की पांडुलिपि उठाई और उसके मुखपृष्ठ को ऐसे दिखाया 'जैसे सुहाग कक्ष में वधू घूंघट हटाते हुए अपना मुखमंडल दिखाती है।' (पृ. 28) फिर कालिदास उसे बताता है कि उसने सभी ऋतुओं का गहन अनुभव किया है, 'प्रकृति और मनुष्य का सह-अस्तित्व, परस्पर निर्भरता और तादात्म्य' को अनुभूत कर दो वर्षों में उसे भोजपत्र पर कालिदास ने उतारा, 'संसार में जो अनुभव नियमित, सामान्य और सहज स्वीकार्य माना जाता है, मैं उसमें से एक नया अर्थ, एक नई व्याख्या निचोड़ने में तल्लीन था...इन पंक्तियों के बीच एक और कविता है–तनाव, अंतर्दहन और पीड़ा की' (पृ. 28)। सिर्फ मुग्धा इसे जानती-समझती थी। मनुष्य और प्रकृति की पूरकता का यह प्रदर्शन आज के पारिस्थितिकी विज्ञान के अनुकूल है।

बाद में मातुल ने कालिदास से पूछा कि वह सुबह कहां गया था? उसके न पढ़ाने के कारण इरा के पिता नारायण वेतन काट लेंगे, तो कालिदास ने बताया कि नंदन कानन में सूर्योदय देखने गया था। इस पर मातुल क्रोधित हो गए कि वहां सूर्योदय भिन्न कैसे होगा? उसके कवि कर्म को उलाहना देते हुए मातुल ने गुस्से में कहा, ''आज की तिथि तक मैंने अनगितन गायों, बैलों, भैंसों, ऊंटों और गर्दभों का उपचार किया है, पर मैं सचमुच नहीं समझ पा रहा कि कवि नामक इस जंतु का उपचार कैसे करूं?'' (पृ. 29) सचमुच, कविता रचने वाले को आज तक लोग नहीं समझ पाए, विशेषकर पुरस्कार और प्रसिद्धि पाने के पहले तक उसके घर-परिवार, पड़ोस, समुदाय, जिला- जवार, प्रांत-देश के अन्य लोग कवि को आवारा, निष्क्रिय, फालतू और अनुपयोगी समझते हैं, क्योंकि वह सामान्य मानवों से थोड़ा भिन्न व्यवहार करता है, वह ज्यादा संवेदनशील होता है और तमाम कुरीतियों और कुप्रथाओं को चुनौती देता है। खैर मातुल यह जानकर बिदक गए कि 'ऋतु संहार' की पांडुलिपि तैयार करने में स्वर्ण मुद्रा खर्च हुई। उन्होंने पूछा कि उसने स्वयं इसे क्यों नहीं तैयार किया? जब कालिदास ने बताया कि सम्मानित कवि का काम कोई व्यावसायिक प्रतिलिपिकार करता है, तो मातुल ने कहा, ''तुम सम्मानित कवि नहीं हो। तुम कवि हो भी, मैं कह नहीं सकता।'' (पृ. 30) ऐसा कहने के पीछे मातुल का तर्क था, ''क्योंकि मैं कविता नहीं पढ़ता'' आज के संदर्भ में भी कहा जा सकता है कि कई युवा कवि तमाम अच्छी कविताएं लिख रहे हैं, मगर कई आलोचक बिना पढ़े ही उन्हे कवि मानने को तैयार नहीं हैं। गांव के स्थानीय शिक्षक ने 'ऋतु संहार' की प्रशंसा की, मगर यह मत भी व्यक्त किया कि कोई विद्वान आलोचक इसका मूल्यांकन करे। अस्तु, कालिदास ने अपनी पांडुलिपि आचार्य आलोकवर्धन, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जयिनी को भेज दी।

आगे उपन्यास में केंद्र संचालित प्राथमिक शिक्षक परीक्षा में कालिदास के बैठने का जिक्र है कि किस प्रकार विलंब के कारण उसे परीक्षा में बैठने से रोका जाता है, चौकीदार और वीक्षक द्वारा। फिर उसे परीक्षा क्रमांक नहीं मिला है, महाविद्यालय की उपाधि नहीं है उसके पास। नियमतः पंजीयन के बाद परीक्षा के एक दिन पहले क्रमांक लेना था। फिर परीक्षा के सहायक निर्देशक ने दो टूक कहा, ''शिक्षक विद्यार्थी के समक्ष आदर्श होता है। तुम विद्यार्थियों को क्या सिखाओगे? समय की पाबंदी का तुमसे बैर है। नियमों की तुम डंके की चोट पर अवहेलना करते हो...।'' (पृ. 39) इस पर कालिदास ने बताया कि वह सुदूर गांव में रहता है, कि नीलपुर आने में सात-आठ दिन लगते हैं, फिर भी उसने साढ़े तीन दिन में उक्त पद यात्रा की है, मगर वह अधिकारी इससे संतुष्ट नहीं हुआ। फिर कालिदास ने बताया कि वह अपने पहले काव्य की पांडुलिपि आचार्य आलोकवर्धन को मूल्यांकन हेतु भेजने में व्यस्त था। यह सुनकर अधिकारी थोड़ा हिला, मगर जब जान गया कि आचार्य से उसका निजी परिचय नहीं है, तो कटुता से बोला, 'असफल कवि सफल शिक्षक नहीं हो सकता।' मगर जब कालिदास निराश होकर वापस लौटने लगा, तो अधिकारी ने पूछा, ''तुम अपनी इच्छा से परीक्षा देने आए हो?'' कालिदास ने जवाब दिया, ''अपने अभिभावक का आदेश रखने के लिए कोप के समस्त सोपान पूरे हो चुके हैं। अब वह आत्मपीड़ा पर उतर आएंगे।'' (पृ. 40) इस पर सहायक निर्देशक पिघला और परीक्षा में बैठने की अनुमति उसे दे दी। सारे परीक्षार्थियों ने यह मान लिया कि इतने विलंब के कारण कालिदास पांचों प्रश्नों का उत्तर लिख ही नहीं पाएगा।

वापस लौटने पर मुग्धा ने कालिदास से कहा कि मातुल यह जानने को अधीर है कि उत्तर पुस्तिका ठीक-ठाक भरी भी है या नहीं। इस पर कालिदास ने ठिठोली की, 'नहीं, पहले और अंतिम पृष्ठ पर बस तुम्हारा नाम लिखकर आ गया हूं।'' इस पर मुग्धा ने व्यंग्य मारा, ''तब तो तुम अपनी नियुक्ति पक्की समझो।'' बाद में एक कवि-गोष्ठी में कालिदास ने संस्कृत में काव्य-पाठ किया, तो संयोजकों ने उसे 'तथाकथित प्रगीत', 'विशृंखल और अराजक', 'न कोई कथा है, न नायक-नायिका' आदि कहकर खारिज कर दिया। कालिदास ने कहा, 'छहों ऋतुएं नायिकाएं हैं और प्रत्येक नागरिक नायक' (पृ. 47)। तभी संयोजक ने कहा, 'नन्दग्राम के एक पशु-चिकित्सक को जानता हूं। बेचारे सदा विलाप करते हैं कि उनका भांजा भयंकर कविता व्याधि से पीड़ित है।' (पृ. 47) सो अपमानित महसूस कर कालिदास अपनी पांडुलिपि लेकर वापस चला गया। आज भी हिंदी साहित्य के बड़े आलोचकों का कमोबेश यही रवैया है युवा रचनाकारों के प्रति। इस ग्लानि के कारण कालिदास ने एक दिन मुग्धा से कहा कि वह अपने मातुल का सहायक बनना चाहता है, क्योंकि काव्य-सृजन व्यर्थ है। इस पर मुग्धा ने बड़ी समझदारी से कहा, 'आसपास अनेक हैं, जो समर्थ पशुचिकित्सक बन सकते हैं, पर तुम अकेले हो, जिसमें कुछ भिन्न बनने की क्षमता है।'' (पृ. 48) इससे बहुत प्रभावित हुआ कालिदास। एक दिन नंदीग्राम में आंख पर पट्टी बांधकर अपने अंतरंग की पहचान करनी थी, तब भी कालिदास ने मुग्धा को सही पहचाना। मुग्धा कालिदास को 'आत्मा-सहचर' मानती थी और कालिदास उसे अपनी 'आत्मा-सहचरी' मानता था।

उधर राजकीय शिक्षा सेवा की परीक्षा में छप्पन में से पचपन परीक्षार्थी असफल हो गए और मात्र कालिदास सफल हुआ। उसे सूचना मिली कि राजकीय शिक्षा सेवा में उसकी नियुक्ति होगी तथा प्रति माह एक सौ पचास स्वर्ण मुद्राएं मिलेंगी। इस पर मातुल गद्‌गद् थे, क्योंकि उनकी एक सौ अड़तालीस

पीढ़ियों में किसी को राजकीय सेवा का गौरव नहीं मिला था। मातुल एक साथ दुहरा उत्सव मनाना चाह रहे थे–कालिदास-मुगधा का विवाह तथा शिक्षा सेवा में पदभार ग्रहण।

एक दिन आचार्य आलोकवर्धन कालिदास के पास आए और अपनी भूल स्वीकार करते हुए बोले, ''यदि मैंने तुम्हारी सामर्थ्य राजदुहिता से पहले पहचान ली होती, तो तुम उनके अंतरंग नहीं हो सकते थे।'' (पृ. 345) कालिदास ने कहा, ''उज्जयिनी आने से पहले मैं सोच भी नहीं सकता था कि इतना बड़ा विद्वान मानसिक रूप से ऐसा विकृत भी हो सकता है।'' (पृ. 345) आलोकवर्धन अब विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद के प्रत्याशी थे, अस्तु, वह चाहते थे कि कालिदास उनकी नियति बदल दें। पहले कालिदास ने यही आशा आलोकवर्धन से की थी। सो कालिदास उनसे हाथ छुड़ाकर आगे बढ़ गया।

एक अन्य प्रसंग में मार्तंड से कालिदस ने कहा, ''अपना निजी मोर्चा समतल, प्रशांत ओर मृदु चाहता हूं, जो केवल मुग्धा के साथ संभव है।'' (पृ. 466) उधर स्वयंवर में जाने के पूर्व प्रियंगुमंजरी कालिदास को एक बार देखना चाहती थी और किसी की पत्नी बनने के बाद ही संभाषण करने का निर्णय लिया। उसने अपनी मां की इच्छानुसार युवराज प्रचंडबल का वरण करने की बात कही, मगर उसकी सखियां जानती थीं कि वह प्रचंडबल से प्रेम नहीं करती। उत्सव में उपस्थित युवकों और युवतियों के हाथ में 'मेघदूतम्' की प्रतियां थीं और वे कालिदास की प्रशंसा कर रहे थे। उधर मातुल और मुग्धा को लाने के लिए कालिदास ने गजराज, ऊंट और घोड़े भेज दिए थे। कालिदास को अहसास होता था कि मुग्धा के कारण ही 'मेघदूतम्' लिखा गया और जब भी 'शाकुन्तलम्' लिखा जाएगा, उसके पीछे भी मुग्धा ही होगी, मगर प्रियंगुमंजरी ने अचानक वरमाला कालिदास के गले में डाल दी थी। कालिदास ने कहा, ''मैं नंदीग्राम में मुग्धा के साथ गंधर्व विवाह कर चुका हूं।'' (पृ. 495) प्रियंगुमंजरी की मां अरुंधती इससे संतुष्ट नहीं थी, क्योंकि कालिदास किसी राज कुल/राजप्रासाद का सदस्य नहीं था। राजप्रासाद के अधिकतर रत्न भी इससे खुश

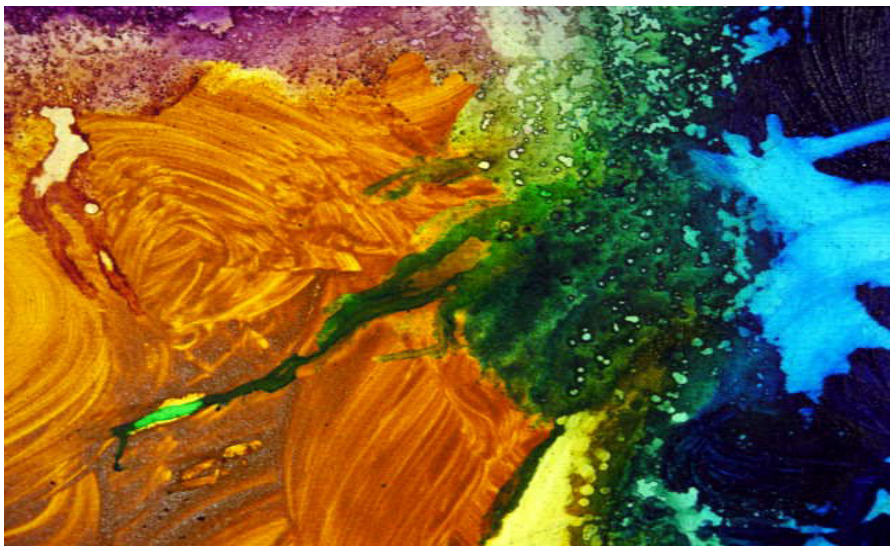

नहीं थे। यह सुनकर मुग्धा ने कहा कि वह मर जाएगी, मगर मातुल ने कहा, ''नहीं, हमें जीकर दिखाना होगा अन्यथा फिर विजयी हो जाएगा कालिदास।'' (पृ. 498) जिजीविषा का अनुपम उदाहरण है यह वाक्य। फिर चर्चा होने लगी कि क्या घोषणा कर दी जाए कि स्वयंवर निष्प्रभावी हो गया, मगर मंत्रीगण इसे परंपरा के विपरीत बता रहे थे।

बाद में मुग्धा और प्रियंगुमंजरी की मुठभेड़ होती है। मुग्धा ने उससे पूछा, ''समारोह से पहले मेरे संबंध में विदित था?''

''कोई विशेष नाम कभी सुनने में नहीं आया।''

''मेघदूतम् के बाद भी नहीं समझा कि नाम न सही, कोई है तो अवश्य?''

''यद्यपि उसकी प्रेरणा को लेकर कुछ धुंध थी, पर किसी प्रकार मैं यह मानने का आग्रह करती रही कि यक्षिणी मैं हूं।''

''तुम?''

''अधिकांश उज्जयिनी की यह मान्यता है।''

शाम को मुग्धा ने फिर प्रियंगुमंजरी से पूछा, ''तुम्हारी उज्जयिनी में और कवि नहीं बचे?''

''मेघदूतम् ने सबको बौना बना दिया है।...स्वयंवर की घोषणा मेरी मां ने कर दी थी, मुझे बताए बिना।''

''पूर्वाभ्यास किए हुए संवादों की आश्वस्ति नहीं चाहिए मुझे।''

''क्षत-विक्षत हुतात्मा! मेरे ऊपर तुम्हारा कोई ऋण नहीं। मेरा ईश्वर जानता है, मैं निर्दोष हूं।' (पृ. 505)

बाद में मुग्धा ने उससे पूछा, ''स्वयंवर से पहले कालिदास को इस राजकवि व्यापार की सूचना थी?''

''उसे अभी तक नहीं। क्यों मुझे आहत कर रही हो तुम? क्यों मेरी निष्ठा पर संदेह कर रही हो? मैंने तुम्हारा सौभाग्य नहीं लूटा, क्योंकि मुझे तुम्हारे अस्तित्व का बोध ही नहीं था। और सत्य के लिए व्याकुल हो तुम? तो सुन लो, स्वयंवर से कई दिन पहले मैंने सोच लिया था कि युवराज प्रचंडबल का वरण करूंगी, क्योंकि मेरी मां की प्रबल आकांक्षा थी।''

''तब फिर वरमाला अभिप्रेत गले में कैसे पहुंच गई?''

''वरमाला हाथ में लिए प्रचंडबल को देख रही थी मैं...मैं हताश प्रचंडबल की ओर निर्णायक पगों में से एक बढ़ा रही थी और तभी मैंने कालिदास को देखा–मेरे संसार में तत्क्षण लावा फूटने लगा...अब तो मेरे जीवन का अंतिम निर्णय कर दो।'' (पृ. 507) तब तक मुग्धा की हथेली को उसने अपने गाल से लगा लिया। बाद में मातुल ने मुग्धा से कहा, ''अगर तुमने कालिदास को मुक्त कर दिया, तो तुम दोनों मोर्चों पर हार जाओगी।'' राजपुरोहित ने मुग्धा को बताया कि स्वयंवर के व्यर्थन का कोई पूर्वोदाहरण नहीं है। बाद में सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मुग्धा से कहा, ''मैं और मेरा प्रशासन तुमसे वचनबद्ध है। तुम जो भी निर्णय करोगी, वह सबको मान्य और अंतिम होगा।'' (पृ. 510) मुग्धा नमन करके बाहर निकल गई। बाद में मातुल ने कालिदास को फटकारा कि संस्कृति साहित्य

में स्थान बनाने के साथ-साथ उसने गुप्त साम्राज्य में भी अपना स्थान क्यों बनाना चाहा? कालिदास ने मातुल का पैर छूकर और उनकी सौगंध खाकर उस आरोप को नकारा। आगे का प्रकरण अत्यंत मजेदार है। मातुल भूसे के ढेर में से मेघदूतम् की एक प्रति निकालता है ओर धिक्कारता है उसे उसकी मूर्खता पर, ''मेघ के द्वारा संदेश भेजना। कोई विक्षिप्त भी नहीं करेगा और सारा संसार बलिहारी जा रहा है इसके ऊपर। कौन पागल है, मैं या सारा संसार?'' कालिदास बुदुबदाया, 'सारा संसार।' (पृ. 511)

मातुल ने स्पष्ट किया कि वह राजकन्या और उज्जयिनी, दोनों का त्याग करे, मुग्धा से विवाह कर नंदीग्राम में रहे, वरना वह उसका मुंह नहीं देखेंगे, मगर कालिदास में निर्णय लेने का साहस नहीं था। ऐसे मौके पर उपन्यासकार ने काव्यात्मक ढंग से लिखा, गाय ने रंभाकर संदेश दिया, ''अभी दूध शेष है।'' अब कालिदास को मुग्धा बाह्य रूप में 'ग्रामीण' लगी। मुग्धा ने कहा कि वह किसी कवि की छाया की छाया छूने की अपेक्षा नागवासुकि के मुख-चुंबन का चुनाव करेगी और तुरंत अपराधबोध के कारण कालिदास की आंखें झुक गईं। कालिदास ने उससे कहा, ''निर्णय तुम्हें करना है।'' मुग्धा के द्वारा मुक्त किए जाने पर वह कीर्तिभट्ट के साथ उज्जयिनी के अपने घर में रहेंगे। जब मुग्धा ने यह कहा कि सम्राट उसे राजप्रासाद में रखना चाहते हैं, तो कालिदास ने कहा, ''मेरे वहाँ रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके साथ के जीवन में यही होगा–हर दूसरे दिन द्वंद्व लीला–'' (पृ. 517) फिर मुग्धा ने पूछा कि यदि वह उसे स्वीकार कर ले, तो राजकन्या क्या करेगी। इस पर कालिदास ने कहा–''किसी अगम्य स्थल पर अज्ञातवास करेंगी या छद्म वेष में दीर्घ यात्राएं–अपने संसार से पूरी तरह स्वयं को काट लेने के लिए विदेश में भी कहीं बस सकती हैं।'' (पृ. 517) इस पर मुग्धा ने पूछा, ''तुम्हें कैसा लगेगा?''

''अत्यंत संतप्त हो जाऊंगा।''

''राजदुहिता उत्तरदायी हैं?''

''मैं क्रूर नियति की ओर उंगली उठाऊंगा।''

थोड़ी देर में प्रियंगुमंजरी आई और बोली, ''कालिदास और उज्जयिनी से विदा लेने के लिए मैंने स्वयं को तैयार कर लिया है।'' (पृ. 521) फिर उसने बताया कि वह एकांतवास करेगी और चित्र, वीणा, अध्ययन में समय बिताएगी। उधर आलोकवर्धन ने कहा कि यदि स्वयंवर को अमान्य किया गया, तो कालिदास की कवि-छवि नष्ट हो जाएगी और उज्जयिनी में उसे मुंह छिपाने की जगह नहीं मिलेगी। फिर राजकवि का आसन शताब्दियों तक रिक्त रहेगा। उसने आगे जोड़ा कि तब साहित्य केंद्र ही कालिदास का बहिष्कार कर देगा। मुग्धा ने कहा, 'बस' और अंत में मुग्धा ने बलिदान देकर निर्णय दिया कि राजकन्या और कालिदास उज्जयिनी लौटकर साथ-साथ रहें, क्योंकि वे दोनों एक-दूसरे के और उज्जयिनी के हैं। कुछ दिनों तक डंक मारती रहेंगी उज्जयिनी के वैभव की यादें–फिर आदत हो जाएगी नंदीग्राम में रहने की। राजकन्या और कालिदास का रथ आगे बढ़ गया। कालिदास 'कवि कुल-गुरु' की उपाधि के साथ राजकवि पद पर आसीन हो गए। बाद में उनकी 'रघुवंशम्' और 'कुमार संभवम्' जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियां प्रकाशित हुईं। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' पृथ्वी और स्वर्ग, आदर्श रोमान और त्रासदी एवं जड़ तथा आत्मा सेतुबंध बन गया, मगर अंततः कालिदास ने नवरत्न परिषद् से त्यागपत्र दे दिया और उज्जयिनी से सदा के लिए विदा ले ली। शाकुंतलम् नाटक को अप्रतिम कीर्ति मिली, क्योंकि कालिदास ने उससे मनुष्य की आत्मा को बचाने योग्य बनाया।

कालिदास के जीवन-चरित पर कल्पना के सहारे और उनकी रचनाओं के सहारे लिखा गया यह अद्भुत एवं श्रेष्ठ उपन्यास है। कुल 350 पृष्ठों के इस उपन्यास में प्रूफ की एक सौ से अधिक अशुद्धियां चिंता का विषय है। उपन्यास की अंतर्वस्तु के साथ-साथ इसकी जीवंत भाषा, बिंब, तकनीक, वार्तालाप शैली आदि इसे मंचन एवं फिल्मांकन दोनों के सुयोग्य बनाती है। यहां जीवन का यथार्थ कम और कल्पना का ताना-बाना अधिक है, मगर उपन्यासकार ने पूरे वृतांत को विश्वसनीय बनाने में सफलता पाई है। इसके लिए उसने कालिदास की तमाम कृतियों से प्रसंगानुकूल उद्धरण दिए हैं। जाहिर है, ऐसे में तत्सम भाषा का प्रयोग ज्यादा है, मगर मातुल, मुग्धा, कीर्ति भट्ट आदि के नंदीग्राम की ग्रामीण भाषा के शब्दों को भी सहजता से प्रयोग में लाया गया है। बचपन में मां-बाप के लालन-पालन से वंचित कालिदास को अंतर्मुखी तथा प्रकृति प्रेमी दिखाना विश्वसनीय है। क्या राष्ट्रीय नाट्य केंद्र को आज का राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तथा साहित्य केंद्र को 'साहित्य अकादेमी' नहीं माना जा सकता है? इसमें गांव एवं महानगर, स्त्री एवं पुरुष, रचना एवं आलोचना, स्त्री बनाम स्त्री तथा अभिजन-सामान्यजन की द्वंद्वात्मकता, उच्च शिक्षण संस्थाओं की कूपमंडूकता, युवा रचनाकारों का संघर्ष, उच्च एवं लघु संस्कृतियों की मुठभेड़ आदि का सम्यक्, वर्णनात्मक एवं रंगमंचीय चित्रण इस उपन्यास को काफी पठनीय एवं संग्रहणीय बनाता है। इस पुस्तक का आवरण, कागज की गुणवत्ता एवं मूल्य उचित ही है। निश्चित रूप से सुरेन्द्र वर्मा ने अपने लोकप्रिय उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' से आगे की जमीन तोड़ी है यहां।

काटना शमी का वृक्ष पद्म पंखुरी की धार से/सुरेन्द्र वर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ/18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 550

डी-71, निवेदिता कुंज, आर. के. पुरम, से. 10, नई दिल्ली-110022 फोन : 011-26162591

सामूहिकता व मैत्री का इंद्रधनुष

महावीर अग्रवाल

विनोद कुमार शुक्ल का चौथा उपन्यास 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' को किशोर, बड़ों और बच्चों का एक उपन्यास कहा गया है। पतरंगी चिड़िया और खंजन चिड़िया के लुभावने गुण के साथ शुरू होता हुआ उपन्यास अपनी कल्पनाशीलता के कारण पाठक को नई दुनिया की सैर कराता है। पाठक कल्पनाओं के ठाठ में अछूते पहलू खोलकर नए आयाम देखता है, ''पतरंगी चिड़िया उड़ती है तभी बोलती है, बैठ गई तो चुप हो जाती है।'' (पृ. 5) और फिर पृष्ठ 8 पर ''मां, एक बिल्ली का बच्चा कक्षा में घुस आया। भूरी बिल्ली का।...कहीं मेरी किताब के पाठ से तो बिल्ली का बच्चा बाहर न निकल गया है। अब वापस कैसे जाएगा?''

उपन्यास में बच्चों की मित्रता के साथ ही अमलतास वाला पेड़, हरेवा नाम का पक्षी, बुलबुल, कोतवाल, शौबीजी, किलकिला, दैयार, दर्जी, मधुमक्खी का छत्ता, गौरेया चिड़िया, जंगली भैंसी, नुकीले पंख वाला बाज, नील गाय, तितली और हिरण है। बजरंग महाराज के होटल में चाय पीने वाले ग्राहकों में नए-नए रूपों में गिलहरी और हाथी हैं–एक दिन भैरा ने बताया कि उसके पिता बताते थे कि उनका पहला ग्राहक एक गिलहरी थी। 'गिलहरी'! सबको आश्चर्य हुआ। ''भजिया खाने आई थी?'' (पृ. 20) ''दूसरा ग्राहक हाथी था।'' भैरा ने कहा। हाथी! कूना जोर से चीखी। ''हाथी की प्याली तो बहुत बड़ी होगी।'' (पृ. 21)। हम इसे फैंटेसी कहें या जादुई यथार्थवाद या फिर आलोचकों को विनोद जी की इस भाषा, इस शैली और कल्पनाशीलता के लिए कोई नया नाम गढ़ना होगा। दूसरे प्रसंग में आवाज बदलकर बोलने के खेल में फंतासी की बुनावट में ताजगी और नयापन है।

इसी तरह एक और प्रसंग देखिए–भैरा कुछ दौड़ता हुआ बोलू के पास गया और कहा, ''मैंने एक जादू सीखा है। अगर खंजन चिड़िया का पंख सिर पर रख लो तो गायब हो जाओगे।''–''फिर आएंगे कैसे?''–''सिर से पंख उतार लो तो आ जाएंगे।'' भैरा ने कहा। (पृ. 15) कहना न होगा कि उपन्यास में बच्चों के लिए सपनीली दुनिया जैसी सुंदर-सुंदर बातें हैं। बोलू, भैरा, कूना, प्रेमू और बीनू के बीच छूआछूआइल का खेल मुझे अपने बचपन की याद दिलाता है। ''क्षण भर को जोर की हवा चली और बोलू सबकी दृष्टि से गायब हो गया। बोलू झोंकों के पंख की सहायता से खंजन चिड़िया के साथ दिखने और गायब होने का छुपा-छुपाइल खेल रहा था। बोलू अभी तक किसी को नहीं दिखा था। बोलू आसपास के दृश्यों के रंग संयोजन में इस तरह से घुलमिल जाता था कि दिखाई नहीं देता था।'' (पृ. 39) ''बाज ने गोता लगाया। उसे दूसरी खंजन दिखी, इस खंजन की ओर वह निशाने के तीर जैसा उड़ा। इस बार उसका निशाना फिर चूक गया। हो सकता है पहले वाली खंजन ने दूसरी खंजन को गायब कर उसकी जान बचाई हो। दो खंजन के साथ ने बाज को थका दिया। बाज को यह थकावट उड़ने से नहीं, निराशा से हुई थी।'' (पृ. 45) सच तो यह है कि विनोद कुमार शुक्ल के कल्पनाजगत में रचनात्मकता का एक ऐसा संसार है, जो जीवंत और आनंद से भरा-पूरा ही नहीं है, फैंटेसी से भी लबालब है।

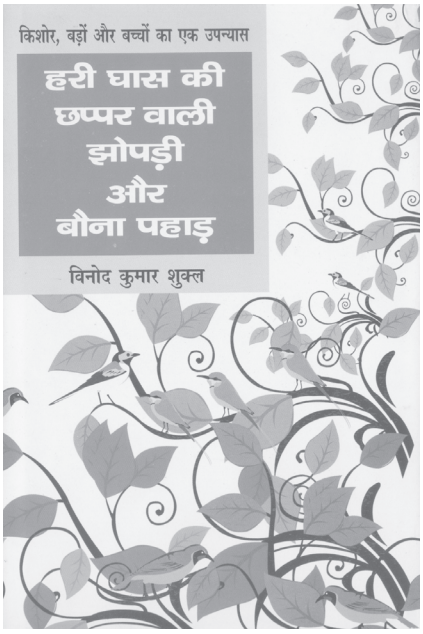

छोटे-छोटे स्कूली बच्चों के मन को भाने वाला स्कूल के आले में बैठने का नया खेल है, मनोहारी कल्पना है, नई फंतासी है, आले में बैठने की शुरुआत बोलू ने की थी। जब गुरुजी नहीं होते, तब। गुरुजी होते तब भी। कक्षा में, बच्चों का मन होता तो आलों में भी बैठ जाते थे। जब सभी बच्चे कक्षा में उपस्थित होते तो बहुत-से आलों में बैठे दिखते। पढ़ाई के हल्ले के साथ चिड़ियों का चहचहाना पढ़ाई का ही हल्ला होता। हर जगह गौरैया होती। करीब-करीब सभी खूंटों पर और किसी बस्ते के ऊपर भी...बौना पहाड़ बच्चों का पहाड़ था और बूढ़ों का भी, क्योंकि इस पर चढ़ना कठिन नहीं था। (पृ. 27) और फिर पृष्ठ 25 की यह बानगी देखिए, ''हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी में एक अत्यंत बूढ़े और एक बूढ़ी रहते थे। जब झोपड़ी के पास आओ तो घास के बीच झांकते हुए फूल दिखाई देते।...लगता है

झोपड़ी में बूढ़े और बूढ़ी युगों से दिन-रात रह रहे हैं और सूर्योदय तथा सूर्यास्त का उत्सव उन्हीं की झोपड़ी में होता होगा। यद्यपि दिन का हीरा होकर सूर्य बस्ती में दिन भर चमकता और रात का पुखराज होकर चंद्रमा। बस्ती के सभी छप्परों पर तारे बिखरे पड़े हुए चमकते। बस्ती का दृश्य हर दिन सुंदर दृश्यों की प्रतिद्वंद्विता में पिछले से ज्यादा सुंदर होता। भाषा की चमक के साथ भाषा का संगीत भी कथा को मोहक बनाता है।

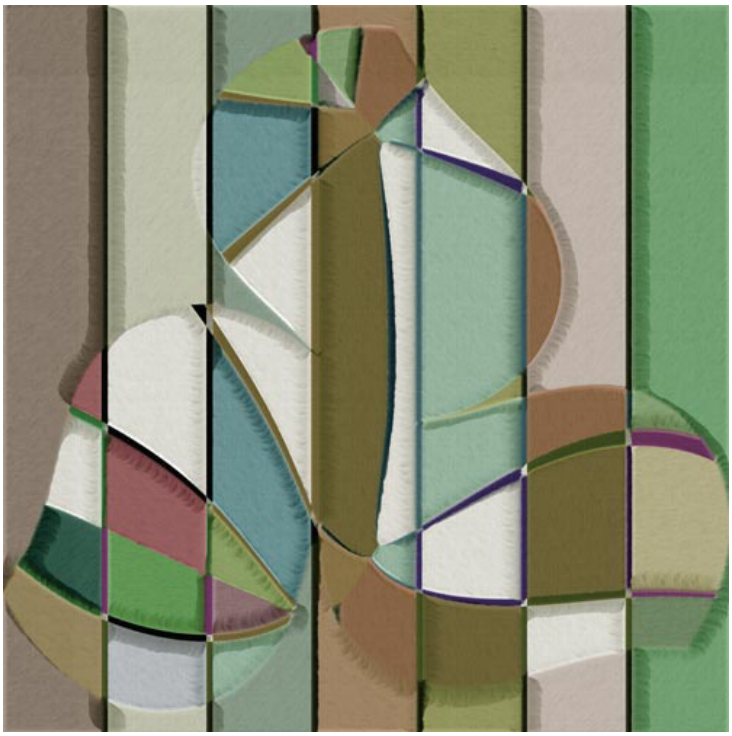

मंगलवार का दिन था। कक्षा में आते ही गुरुजी ने कहा, ''आज की पढ़ाई है कि आज स्कूल में कोई पढ़ाई नहीं होगी और इस पढ़ाई का विषय है–छुट्टी का दिन। तुम लोगों को अच्छे से छुट्टी का दिन बिताना चाहिए। छुट्टी का दिन तुम लोगों ने कैसे बिताया, वह मुझे बताना।'' (पृ. 31) ''मैं छुआछुआइल खेलूंगा।'' बोलू भूल गया था कि वह आले में है। (पृ. 32) सामूहिकता से ओतप्रोत समूचे प्रसंग में सामाजिक सरोकार और खिलंदड़ेपन को भी देखिए, ''बस्ती में चंद्रमा निकल आया था... से शुरू होती हुई स्कूल पहुंचने की छोटी-छोटी तैयारी और यात्रा की बारीकियां नए द्वार खोलती है।...इतने में स्कूल की घंटी आठ बार बजी। इस तरह बजी कि बच्चों को लगा बहुत देर हो गई है।...भाषा का आंतरिक गठन कथ्य के साथ ही वर्तमान के बोध को भी जीवंत बनाता है। ''चंद्रमा भी आकाश में बल्ब की तरह जल रहा था। चंद्रमा को फ्लड लाइट कहना ठीक नहीं था। वातावरण खेल की रात जैसा था। छुट्टी के दिन की सुबह कल होगी, उसकी यह रात थी (पृ. 70) करीब-करीब सभी एक साथ स्कूल पहुंचे होंगे। बैलों और गायों को स्कूल के किनारे लगे पेड़ों से बांध दिया गया था। एक-एक पंक्ति से यह ध्वनित होता है कि जड़ों से जुड़ी हुई चर्चा हो रही है। गुरुजी चाहते थे कि बड़ी उम्र के लोग और बच्चे कक्षा के अंदर सोएं। सुरक्षा के लिए युवा बरामदे में सोएं। कक्षा के दरवाजे सोने से पहले अंदर से बंद कर लिए जाएं।'' (पृ. 79) इस तरह की गहरी संवेदना पाठक को निस्वार्थ सामाजिकता की ओर ले जाती है।

हमारी और बच्चों की भागती-दौड़ती जिंदगी में मीडिया की मायावी संस्कृति, सबको ग्लोबल मंडी में जकड़ चुकी है। इंटरनेट, चिटचेट के साथ सनसनीखेज समाचारों के चलते परंपरा और संस्कृति में मिली दादी-नानी की कहानियों से बच्चे दूर हो गए हैं। ऐसे यांत्रिक समय में भी विनोद कुमार शुक्ल के नए उपन्यास 'हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़' के गल्प व कल्प की जुगलबंदी में ताजगी, नवीनता और अपनापन है। बच्चों की सुंदर सपनीली दुनिया की बातें हैं। बोलू ने तब मां के सुख के लिए अपने मन से एक कविता सुनाई :

पतरंगी पतरंगी
तू उड़ते-उड़ते बात करेगी
मैं चलते-चलते बोलूंगा
मां तुम बतियाओ पतरंगी संग

मैं उड़ते-उड़ते कब बोलूंगा। मां को सुनने बोलू चुप होकर खड़ा हो गया। तब मां ने बोलू को चिपटा लिया और सिर पर हाथ फेरते हुए उंगलियों से उसके बड़े-बड़े बालों को पीछे की तरफ सुलझाते हुए गाकर कहा :

अभी तू नन्हा छोटा है
अभी से उड़ जाएगा
पढ़-लिख लेने से
पंख तेरे फूटेंगे
तब तू उड़ना

पृष्ठ 9 के इस दृश्य में ममता छलक-छलक पड़ती है। कितनी सहजता है मां और बेटे के इस संवाद में। मासूम मन के अनुरूप कितनी अनमोल शिक्षा है। कोमल मन संस्कारित होता है और ऐसे ही मानसिक धरातल पर कच्ची मिट्टी आकार लेती है।

कहना न होगा कि मूल कथा का प्रभाव पूरी तरह सघन होकर कथ्य को आगे बढ़ाते हुए एक नए समाज की रचना का स्वप्न साकार करता हुआ दिखाई देता है। ''स्कूल का परिसर मां, दादा, चाचा, बाबा, अजिया, बुआ, मामा, गाय, बछरु आदि से खाली हो चुका था। कूना का घोड़ा भी वहीं था। सुबह होते ही सब स्कूल से चले गए थे। इनके कारण स्कूल रात में घर जैसा था।'' (पृ. 97)। इस पूरे प्रसंग में सामूहिकता की अवधारणा देखते ही बनती है। अपने-पराए और छोटे-बड़े के भेद से दूर रहकर शिक्षा संस्थान को किस तरह वसुधैव कुटुम्बकम की सोच के साथ मिलकर काम करना चाहिए, उसकी एक पूरी प्रक्रिया पारदर्शिता के साथ हमारे सामने आती है। हमारा परिवार, हमारा समाज, हमारा देश और हमारा विश्व, कैसा हो, यह स्कूल के इस प्रसंग से समझा जा सकता है।

सपने के माध्यम से भी इस उपन्यास में उन्होंने एक नए मुहावरे का आविष्कार किया। 'बोलू चलते हुए बोलता है और खंजन चिड़िया के पंख के सहारे गायब हो जाता है।' उधर स्कूल में बोलू का रास्ता देखते सब बच्चे सो गए थे।...छुट्टी के दिन की शुरुआत हो चुकी थी और सबकी नींद देर से खुली, बल्कि शायद सभी ने सपने सुबह-सुबह देखे थे। बोलू ने भी सपना देखा। सपना उसे याद था–बोलू ने अपना सपना सबको सुनाया (पृ. 96) बौने पहाड़ के शिखर के मुख से डाला गया पत्थर कम से कम

सात दिनों की गहराई में गिरता है यह सबको मालूम था। आगे चलकर 'रस्सी' के माध्यम से उपन्यासकार कथा को विस्तारित भी करता है और मोहक भी बनाता चलता है।

''छुट्टी का दिन बीतने वाला है
थोड़ा समय बचा है
पहाड़ के मुख से सब सिक्के डालें
फिर जब मर्जी हो वापस आएं
सुनें अपने लौटाए सिक्कों का
गिरना
कि हमने लौटा दिया।''

समय उनको समझ में नहीं आ रहा था। लगता था छुट्टी का दिन अब भी थोड़ा बचा है। कभी लगता कि दूसरे दिन की सुबह है और घर जाकर उन्हें स्कूल की तैयारी करनी है। गुरुजी को छुट्टी का दिन कैसे बीता, यह बताना था। सबको भूख लग रही थी और सब अपने-अपने घर के दरवाजे के सामने खड़े थे (पृ. 136)। सूक्ष्म व विश्लेषणपरक दृष्टि और सकारात्मक सोच होने के बाद भी उपन्यास में अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां बात पहले एक-दो वाक्यों में कही गई है, फिर उसे ही कविता के फार्म में भी लिखा गया है, मुझे लगता है इस पुनरावृत्ति से बचा जा सकता था।

उपन्यास पढ़ते समय एक और चरित्र बजरंग महराज का उभरता है। बजरंग महराज की धोती, टोपी और चिक्कट मैला तकिया, बजरंग महराज का इशारे में बात करना, बजरंग महराज का लड़का भैरा और बजरंग महराज के होटल के सभी दृश्य साकार होते जाते हैं। ''बजरंग महराज के बाएं हाथ में ग्राहक ने एक रुपए और पचास पैसे का सिक्का रखा। बजरंग महराज ने दाहिने हाथ से उस सिक्के को उठाकर गल्ले की पेटी में बने खांचे में डाल दिया। गल्ले की पेटी में सिक्का गिरने की आवाज आती। सिक्के पर सिक्का गिरने की आवाज और बौने पहाड़ के गहरे तल पर सिक्कों की ढेरी पर पत्थर गिरने की आवाज बहुत मिलती-जुलती थी। इसी तरह यदि बजरंग महराज कुछ भी न बोलें और शेर दहाड़े तो भी लोग कहते कि बजरंग महराज बोल रहे हैं। धीरे-धीरे शेर का दहाड़ना बजरंग महराज का बोलना हो गया।'' (पृ. 42)

स्वतः स्फूर्त भाव और भाषा का एक रूप ऐसा भी है, ''क्या गुस्सा हो? भूख लगी है? घर चलो।'' कहकर उसने बोलू को उठाया। उसने बोलू को उसी तरह उठाने की कोशिश की जैसे संभालकर किसी बच्चे को उठाते हैं और वह चकित हुआ कि बोलू हिला नहीं। उसने थोड़ी ताकत लगाई, फिर भी बोलू हिला नहीं। सभी लड़के दोनों को घेरे हुए थे। कूना भी थी। अब उसने सांस खींचकर और बल लगाया। फिर पूरा बल लगाया। बोलू के पैर थोड़ा भी नहीं हिले और कुछ समय बाद पतरंगी की चहचहाहट सुनकर बोलू चैतन्य हो गया। वह गुनगुनाकर मां की गोद में हल्का हो हवा में थोड़ा ऊपर उठा रहा। अत्यंत बूढ़े ने कहा, ''बोलू की मां। बोलू को मेरी गोद में दे दो।'' बोलू की मां ने आदर से पितामह की तरह बूढ़े के हाथ की लाठी ली और नीचे रखी। फिर बोलू को उनके जर्जर फैले हाथों में दे दिया। समूचे उपन्यास की कल्पनाशीलता के इस नएपन में गल्प व कल्प की जुगलबंदी में गद्य और पद्य की सीमा रेखा मिटती जाती है। ''कहानी की भाषा या कविता की भाषा अलग नहीं होती। कविता में कहानी उसी तरह हो सकती है, जिस तरह कहानी में कविता।'' (वसुधा, अंक-62) सच तो यह है कि विनोद कुमार शुक्ल अपने कथन के अनुरूप ही हिंदी कविता, हिंदी कहानी और हिंदी उपन्यास के प्रचलित और बने-बनाए फ्रेम को तोड़ते ही नहीं, उसे समृद्ध भी करते हैं। वे फार्म की जड़ता को जड़ से उखाड़कर, सजगतापूर्वक फार्म और शिल्प का लहलहाता हुआ नया संसार रचते हैं, ''हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी को किसी ने बनते हुए तो नहीं देखा था। उगते हुए भी नहीं देखा था। जिसने भी सबसे पहले देखा, उसने आकाश और बौने पहाड़ के साथ यह बनी-बनाई झोपड़ी देखी (पृ. 23)

सब बना-बनाया सबने देखा
बनते कहां दिखा आकाश
बना-बनाया पहाड़, जंगल
तरह-तरह की चिड़िया
नदिया, समुद्र, जीव और जंतु
बनते कहां दिखा सूरज
पत्थर, पेड़, बरसात
ऋतु बसंत और
रंग-बिरंगे फूल
दिन-संध्या और रात
सबसे अच्छी यही बात है
कि सब बना-बनाया आगे भी
अच्छा बना रहे।

हरे घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़/विनोद कुमार शुक्ल/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 200

ए-14, आदर्श नगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़), फोन : 0788-2210234

कहानी

अतीत की सुरंग के पार

केवल गोस्वामी

ज़ाहिदा हिना पाकिस्तान की प्रसिद्ध उर्दू कथाकार, राजनीतिक टिप्पणीकार हैं। भारत के राष्ट्रपति द्वारा 2001 में उन्हें सार्क पुरस्कार से नवाजा गया। 1986 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के स्वर्ण जयंती समारोह में, 2005 में इलाहाबाद में एज्जाद ज़हीर की जन्म शताब्दी समारोह में 2005 में इलाहाबाद में सज्जाद ज़हीर के जन्म-शताब्दी समारोह में और 2006 में इप्टा की पचहतरवीं वर्षगांठ के जलसों में वे शामिल रहीं। उनकी एक कहानी का अंगेजी अनुवाद स्वयं फ़ैज़ ने किया। उनकी अनेक कहानियों का अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हुआ। ये सारी सूचनाएं पुस्तक के फ्लैप या भूमिका में हैं, इनके आधार पर साहित्य में उनकी प्रतिबद्धता को जाना जा सकता है, यद्यपि संकलित कहानियों को पढ़ने के बाद सहमति-असहमति के ग्राफ बनते-बिगड़ते हैं।

अपनी कहानियों के बारे में वे कहती हैं–''मेरी कहानियां उतनी ही बेढब हैं। मुझे अपने बारे में न कोई खुशफहमी है, न कोई दावा है। जैसे सुई की नोक से गोश्त में उतरी हुई फांस निकाली जाती है, फिर सुख की सांस ली जाती है, वैसे ही मैंने अपने जमीर और शऊर में चुभी हुई फांसों को कलम की नोक से निकाला है और कागज पर रख दिया है। अब अगर ये आपको चुभने लगें तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं।'' हर लेखक स्वयं को जानने एवं परिवेश के दबावों से मुक्ति पाने के लिए कलम का सहारा लेता है, पर इस प्रक्रिया में वह अपने पाठक को साथ लेकर चलता है, लेखिका की उपरोक्त इबारत से या संकलित कहानियों को पढ़ने के बाद इस प्रकार का आभास प्रायः नहीं मिलता।

फ़ैज़ एक जगह लिखते हैं, ''कोई अदब, तब अदब बनता है, जब उसमें पाठक की भी हिस्सेदारी हो। मेरे लिखने से काम नहीं चलता, सुनने वाले (पाठक) की भी हिस्सेदारी हो, तभी अदब संपूर्ण बनता है, यह इम्तिहान पास करना जरूरी है, इसके बिना रचना की प्रक्रिया पूरी नहीं होती।''

संकलित कहानियों में यह प्रक्रिया पूरी होती नहीं जान पड़ती, चूंकि पाठक, विशेषतया हिंदी के पाठक की साझेदारी इसमें नहीं हो पाती। कथ्य-शिल्प जैसा लेखिका ने स्वयं कहा है कि बेढब या दुरुह होना एक कारण है और भाषा क्लिष्ट होना एक अन्य कारण। कृश्नचन्दर, बेदी, मंटो या इंतजार हुसैन की कहानियां पढ़ते समय हिंदी पाठक को इतनी कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता। इन कहानियों को पढ़ते हुए यह भ्रम तेजी से

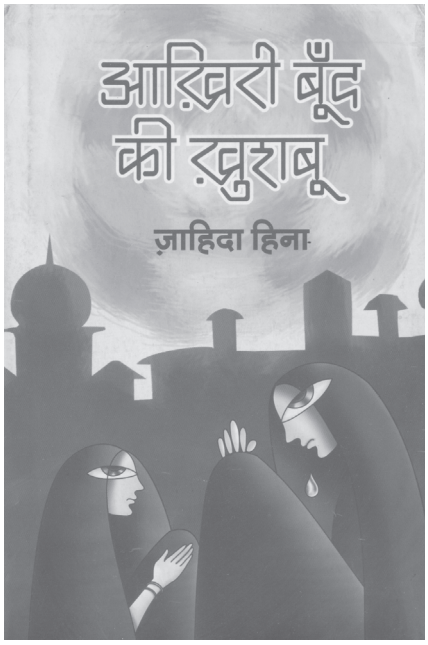

टूटता लगता है कि हिंदी-उर्दू दोनों सगी बने हैं। 'पानियों का धारेठा' कहानी का यह उदाहरण इस बात को स्पष्ट करता है : ''कॉफी घूंट-घूंटकर पी जाने के लिए है। समोसे लुक्का-लुक्का कर खाए जाने के लिए है और मैं इसलिए हूं कि दिन में हिज्र का दुःख मुझे पानी करे और मैं इसलिए हूं कि रात आए तो मेरे मजाजी खुदा के बदन की सरशारी का गिद्ध मेरे वजूद के टुकड़े-टुकड़े करके खाए।'' भाषा की शाब्दिक कठिनाई ही सम्प्रेषण में बाधा नहीं डालती। भाषा का एक सांस्कृतिक पक्ष भी होता है, जहां से भाषा ऊर्जा लेती है, उसका मुहावरा अस्तित्व में आता है, उस तक पहुंचे बिना भाषा को समझना यदि असंभव नहीं तो कठिन जरूर है और यही कठिनाई पाठ में बाधा डालती है इसी कहानी में से एक मुहावरा, 'तड़पे है मुर्ग किबला नुमां आशियाने में' इसका अर्थ जाने बिना न तो आप कथानक की पेचीदगियों को खोल सकते हैं, न ही चरित्र के आसपास पहुंच सकते हैं।

इस महाद्वीप में विभाजन एक ऐसी त्रासदी है, जिसकी मिसाल इतिहास में दूसरी नहीं मिलती। यह एक ऐसा घाव है, जिसे वक्त भी नहीं भर सका। पीढ़ियों से पुरखों की जमीन पर रहते आ रहे परिवारों को उजाड़कर पराई धरती पर ला पटकना और उसे कहना कि उसे स्वदेश कहो, बड़ा कठिन काम है। अजनबी लोग, अनजबी माहौल पनपने में स्थापित होने में सहायक कम और पीड़ादायक अधिक होता है। इस अनुभव को लेकर यशपाल का 'झूठा सच', भीष्म साहनी का 'तमस', इंतजार हुसैन का 'बस्ती', कुदरतुल्ला शहाब का उपन्यास 'उदास नसलें' तो है ही, मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह'

एक ऐसी यादगार कहानी है, जो उस अनुभव से गुजरे लोगों को कभी विस्मृत नहीं होती। यह इसलिए भी संभव हुआ कि ये लेखक उस लहू के दरिया से होकर गुजरे थे, उसके प्रत्यक्षद्रष्टा थे। जाहिदा हिना का जन्म विभाजन से एक वर्ष पूर्व हुआ, इसलिए कहानी लिखने में उसे श्रुति परंपरा अथवा इतिहास का सहारा लेना पड़ा, ऐसे में जो कसाव उस बुनावट में आना चाहिए, उसकी कमी महसूस होती है, घटनाएं और ब्योरे उसे कहानी की अपेक्षा उपन्यास के अधिक निकट लाते हैं। इसी प्रक्रिया में कालांतर में एक ऐसा नवधनाढ्य वर्ग भी उभरकर आया, जिसकी भाषा-संस्कृति, वर्ग या प्रांत विशेष तक सीमित न थी, या यूं कहें कि उसकी पहचान कर पाना आसान काम नहीं था। इस वर्ग ने अपने लिए काले धन के अंबार तो लगाए ही, साथ ही सत्ता में दलाल की भूमिका निभाकर स्वयं को अधिक सुरक्षित बना लिया। परिणामतः इस वर्ग के मुट्ठीभर लोग संपन्न होते गए और शेष जनता अभावों से कभी उबर नहीं पाई। कला संस्कृति-साहित्य पर भी उस वर्ग ने पकड़ बनाई और अपनी जरूरतों के लिए उसे इस्तेमाल किया। जाहिदा हिना ने इन विडंबनाओं को भी अपनी कहानियों में उभारने की कोशिश की है।

भाषा-भाषी साहित्य के निकट आने के लिए अनुवाद एक सशक्त माध्यम है। यह तभी संभव है, जब अनुवादक पुनर्रचना करने में सक्षम हो। मूल एवं लक्ष्य भाषाओं की पूर्ण जानकारी यानी लक्ष्य भाषा का मिजाज एवं उसका अद्यतन मुहावरा, दोनों भाषाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं रचनात्मक प्रक्रिया भी उसे आनी चाहिए। ऐसा न होने की स्थिति में रचना के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद में यह श्रम नहीं किया गया। डॉ. तसनीम सुहेल ने लिप्यांतर करके ही मुक्ति पा ली है।

आखिरी बूंद की ख़ुशबू/जाहिदा हिना/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

जे-363, सरिता विहार, मथुरा रोड, दिल्ली-110076
मो. 09871638634

क विता

मानवतावादी अनुभूतियों का नाद

ज्ञानप्रकाश विवेक

फ़ैज़ की रचनात्मकता के पसःमंज़र जो दुःख, वेदना, बेचैनी और तड़प दिखाई देती है, वो फ़ैज़ की सच्ची, बल्कि कहें कि पवित्र अनुभूतियों का नाद है। वो विश्व के सच्चे मानवतावादी शायर हैं। वो दमित, शोषित और बेकस इन्सान के पक्ष में खड़े होते हैं और शायरी के ज़रिए तानाशाह, हुकूमतों के रवैये का विरोध करते हैं। प्रताड़ित मनुष्य का दुःख, उनकी रचनाओं में इतने आवेग के साथ अपनी जगह बनाता है कि फ़ैज़ बड़ी कातरता से कह उठते हैं—और भी दुःख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा।

फ़ैज़ बेशक मुहब्बत और ज़िंदगी के शायर हैं, लेकिन मुहब्बत जैसा तत्व बेमानी हो उठता है, जब वो अवाम के कष्ट और यातनापूर्ण जीवन को देखते हैं। वो अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठाते हैं। सत्ताधीशों को यह नागवार गुज़रता है और साजिशें रचकर, फ़ैज़ को दो बार जेल की सज़ा होती है।

इसके बावजूद फ़ैज़ बड़ी तमकनत और बड़ी जुर्रत के साथ कहते हैं—

हम परवरिशे लोहो-क़लम करते रहेंगे
जो हम पे गुज़रती है रक़म करते रहेंगे

फ़ैज़ की शायरी की बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि शायरी के भीतर जो दुःख है, वो पस्ती और नाकामी की ओर नहीं ले जाता, बल्कि वो दुःख किसी 'गर्व' की तरह अनुभव होता है।

ऐसा कहा जाता है, फ़ैज़ जब पहली दफ़ा जेल में रहे तो उनसे कागज़ और क़लम तक छीन लिए गए। फ़ैज़ ने कच्चा कोयला (लकड़ी का साफ्ट कोक) कहीं से हासिल किया और जेल की दीवारों पर नज़्में और ग़ज़लें लिखते रहे।

फ़ैज़ की शख्सियत का यह ताबिंदा पहलू है कि उन्होंने जेल की दीवार को कागज़ बना लिया और कोयले को क़लम! ऐसे बेचैन और इंकलाबी शायर की क़लम से आखिर ये शेर तो होना ही था—

मता-ए-लोहो-क़लम छिन गई तो क्या ग़म है
कि खूने-दिल में डूबो ली हैं उंगलियां मैंने

फ़ैज़ जेल में रहकर टूटते नहीं। उनकी नज़्मों का स्वर ज्यादा प्रखर, ज्यादा तीखा होकर उभरता है। फ़ैज़ की शायरी निरंतर परिपक्व और मानीखेज होती चली जाती है। यही वजह है कि फ़ैज़ की शायरी का मिज़ाज और मेयार इतना बुलंद, सशक्त, आत्मीय,

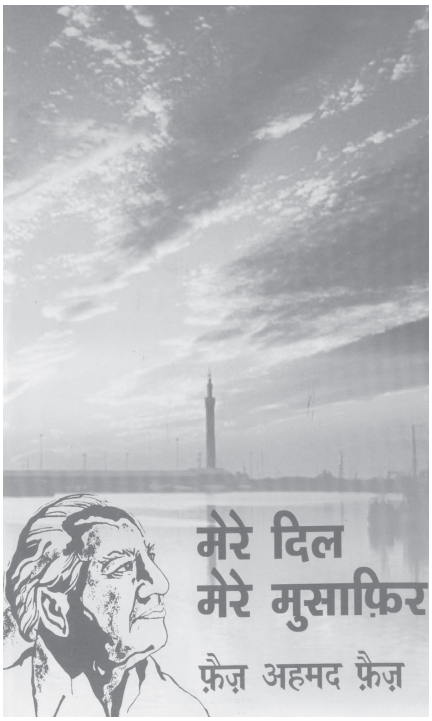

वसीह और संवेगों से भरा है कि शोषित लोगों का गाढ़ा दर्द इस शायरी में खड़ा दिखाई देता है। और फ़ैज़, मुहब्बत करनेवाला अज़ीम शख़्सियत का शायर, यह बात कहने को विवश होता है–अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजे/...लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजे? प्रेम के क्षणों के बावजूद, फ़ैज़ मनुष्य के दुःख को नहीं भूलते। यही मानवतावाद, उनकी शायरी की सिफ़्त है। दूसरी सिफ़्त यह भी है कि ललकार और प्रखर प्रीतिवाद के बावजूद उनकी शायरी न सपाट होती है, न नारे में तबदील!

इस बात पर हैरान हुआ जा सकता है कि उनकी शायरी में वेदना और अवसाद की माकूल जगह है, लेकिन यही दुःख और अवसाद उम्मीद की कहकशां बिछाते चलते हैं।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के कलाम में शक्ति है, जो सच्चाई से छनकर आई है। यही शक्ति फ़ैज़ की रचनाओं को विशिष्टता प्रदान करती है। उस दौर के माहौल पर ज़रा नज़र डालें तो मालूम हो जाएगा कि त्रासद और दमनकारी वातावरण हर तरफ फैला हुआ था, लेकिन फ़ैज़ का कलाम उस मनहूसियत को ख़ारिज कर देता है। फ़ैज़ की अपनी कविता में भी दुःख है, लेकिन वो दुःख, शक्ति रखता है। फ़ैज़ सपने रचते हैं। वो अवाम से मुख़ातिब होते हैं–

ए ख़ाकनशीनों उठ बैठो वो वक़्त क़रीब आ पहुंचा है
जब तख़्त गिराए जाएंगे जब ताज उछाले जाएंगे।

फ़ैज़ यक़ीनन सपनों के तामीर होने का 'सपना' देखते हैं, लेकिन सपनों के टूटने की आवाज़ें भी उनकी शायरी में सुनाई देती हैं। वो आवाज़ें इतनी संगीतात्मक हैं कि सपनों का टूटना भी अलग तरह की तौफ़ीक पैदा करता है–

यूं ही हमेशा खिलाए हैं हमने आग के फूल
न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई
ये जीत का जश्न दरहकीक़त सपनों के टूटने का जश्न है–
ये दाग़-दाग़ उजाला ये शबगज़ीदा सहर
वो इंतज़ार था जिसका ये वो सहर तो नहीं

फ़ैज़ की शायरी में सहर (सुबह) का प्रयोग बार-बार होता है। सहर केवल शब्दभर नहीं। सहर, फ़ैज़ के लिए उम्मीद से लबरेज़ है। जो ज़ुल्मत (अंधेरे) के बाद यक़ीनन हासिल होगी। यही उम्मीद वो अवाम से बांटते भी हैं–दर्द थम जाएगा, ग़म न कर, ग़म न कर/ ज़ख़्म भर जाएगा, ग़म न कर, ग़म न कर।

शुरुआती दौर में प्रेम और सौंदर्य के नौजवान शायर कहते हैं–शायद मेरी उल्फ़त को बहुत याद करोगी–यही शायर जब जनसाधारण के दुःख, वेदना, संघर्ष को अपना बनाता है तो मुहब्बत के न सिर्फ़ मानी बदलते हैं, शायरी भी अपने उत्कर्ष पर पहुंचती है। उनकी एक नज़्म हम देखेंगे (जनवरी, 1979) एक ललकार की तरह है, जो गूंजती है तो जागरण बन जाती है। यहां हुकूमतों के ज़ुल्मों का ज़िक्र है, लेकिन प्रतिवाद के स्वर इतने सशक्त, बुलंद और मारक हैं कि पूरी नज़्म चेतना को स्पर्श ही नहीं करती, उसे झिंझोड़कर रख देती है। ऐसी नज़्मों ने फ़ैज़ को 'दराज़क़द' शायर बनाया और ऐसी नज़्में, फ़ैज़ की शायरी की केंद्रीय सत्ता के रूप में स्थापित होती हैं। नज़्म पढ़ते हुए धीरे-धीरे एक जज़्बा पैदा होता है और संगीत इस नज़्म की आत्मा में बसा है–

हम देखेंगे
नाज़िम है कि हम भी देखेंगे
.....
सब ताज उछाले जाएंगे
सब तख़्त गिराए जाएंगे
....
उट्ठेगा अनलहक का नारा
जो मैं भी हूं और तुम भी हो
और राज करेगी ख़ल्क-ए-ख़ुदा
जो मैं भी हूं और तुम भी हो

ताज्जुब है, एक तरफ़ शायरी में गाढ़ा दुःख तो दूसरी तरफ़ इतनी आक्रामकता। फ़ैज़ की शायरी का यह द्वंद्व जब उभरता है तो शायरी कलात्मकता की ऊंचाइयों को स्पर्श करती है और वो अनलहक (मैं सच हूं) की गूंज में तबदील होने लगती है। फ़ैज़ ने नक़्शे-फ़रियादी की भूमिका में लिखा है, ''शेर लिखना जुर्म न सही, लेकिन बेवजह शेर लिखते रहना ऐसी दानिशमंदी भी नहीं।''

फ़ैज़ की शायरी से गुज़रते वक़्त, फ़ैज़ की उपरोक्त पंक्तियां बरबस याद आती हैं। उनकी शायरी में एक भी मिसरा बेवजह नहीं कहा गया। उनकी शायरी के पसःमंज़र, वजूहातों की एक दुनिया है। ये शायरी मानीख़ेज़ है। चूंकि हर शब्द की यहां एक सत्ता है, जो अर्थ तक पहुंचती है और अर्थ को विस्तार देती है। यहां, चकित कर देनेवाली बात यह भी है कि फ़ैज़ न क्राफ़्ट के साथ ज्यादा रद्दोबदल करते हैं, न अल्फ़ाज़ के साथ, लेकिन फिर भी शायरी नई और जदीद! और इतनी जदीद कि जदीद शायर तक फ़ैज़ के डिक्शन से हतप्रभ रह जाते हैं। फ़ैज़ ने परंपरा को अपनी शायरी में नष्ट नहीं होने दिया, उसे नए संकल्प और मुहावरे और गहराई और अनुभव और संगीत के साथ नौईयत प्रदान की, लेकिन उनकी बाद की नज़्मों को देखें–ख़ासतौर से 'मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर' संग्रह की नज़्मों को। वहां, नज़्मों में परिवर्तन भी दिखाई देता है। अन्य भाषाओं की कविता के शिल्प का असर भी इन नज़्मों में कुछ हद तक देखा जा सकता है, लेकिन बयान करने का सलीका और अल्फ़ाज़ में नए मुहावारे पैदा करने का फ़न फ़ैज़ ने बरकरार रखा।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का यह जन्म शताब्दी वर्ष है। हिंदी अदब–अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल शताब्दी समारोह के साथ-साथ फ़ैज़ का भी शताब्दी समारोह मना रहा है। फ़ैज़ हमारे अपने हैं। इतने अपने कि हिन्दुस्तान में फ़ैज़ का रुतबा और लोकप्रियता शमशेर और अज्ञेय से कहीं भी कम नहीं है।

ऐसे शानदार समय में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज़्मों और ग़ज़लों का संग्रह–'मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर' छपकर आया है। यह दूसरा संस्करण है। पहला संस्करण 1982 में प्रकाशित हुआ। इधर, फ़ैज़ के प्रशंसकों में इज़ाफ़ा हुआ है। इस किताब की इसलिए भी ज़रूरत थी कि नए पाठक और प्रशंसक फ़ैज़ की शायरी के उस मिज़ाज से भी वाकिफ़ हों सकें, जो उन्होंने आत्मनिर्वासन के दौर में लिखी।

फ़ैज़ को दो बार जेल जाना पड़ा और बाद में निर्वासन! ख़ुद फ़ैज़ इस निर्वासन के विषय में स्पष्ट करते हैं कि यह नाज़िम हिक़मत जैसा ज़बरदस्ती का निर्वासन नहीं था। मुल्क के हालात कुछ ऐसे थे कि उन्हें मुल्क छोड़ना पड़ा। एक तरह से यह निर्वासन,

आत्मनिर्वासन ज्यादा था। यह दौर, 1977 से 1981 के आसपास का था। इस दौर की रचनाओं में वतन की स्मृतियां, दोस्तों की यादें और बेघरी–बड़ी शिद्दत के साथ उभरकर आई है। अपनी पहली नज़्म में वो दिन की वेदना को बड़ी थरथराहट के साथ व्यक्त करते हैं–

मिरे दिल, मिरे मुसाफ़िर
हुआ फिर से हुकम सादिर
कि वतन-बदर हों हम तुम

पूरी नज़्म में एक तड़प है, जो स्मृतियों की गूंज से छनकर आती है। यहां, छोटे-छोटे बिंब हैं, अक्स हैं, स्मृतियां हैं। नज़्म बेशक छोटी है, लेकिन नज़्म के भीतर, बेघरी का ऐसा नाद है, जो आत्मा को बेचैन करने की सामर्थ्य रखता है।

फ़ैज़ के इस संकलन में कुछ नज़्में 'सानेट' की तरह हैं, लेकिन इन नज़्मों में शिद्दत की रवानी है और रवानी के भीतर बिंब हैं, बिलकुल नए, लेकिन दुःख पुराना। निर्वासन का दुःख–साज़ सब बज के खो गए हैं/पायलें बुझके सो गई हैं।

पायलों का बुझके सोना बिलकुल नया प्रयोग है। फ़ैज़ ने एक नज़्म में दर्द का चांद बुझ गया, जैसा नायाब प्रयोग भी किया है।

इस संग्रह में दो ऐसी भी नज़्में हैं, जिनमें मख़दूम को याद किया है। ग़ौरतलब है कि मख़दूम मौइउद्दीन उस ज़माने के इंकलाबी शायर थे और तरक्कीपसंद नज़रिया रखते थे। फ़ैज़ पाकिस्तान में थे तो मख़दूम हिंदुस्तान में। उनकी मशहूर नज़्म 'हम देखेंगे' भी निर्वासन के दौर में लिखी गई, जो अवाम की वेदना को अपने भीतर तहलील करती है और फिर हर लफ़्ज़ किसी शरर की तरह आंच पैदा करता है।

'शाइर लोग' नज़्म में तो फ़ैज़ अपने दिल की तड़प को जैसे खोलकर दिखा रहे हों–

जिन पे आंसू बहाने को कोई न था
अपनी आंख उनके ग़म में बरसती रही
अपने नग़में सलाखों से छनते रहे
दुःख भरी ख़ल्क का दुखःभरा दिल हैं हम!

फ़ैज़ की भावनाएं, संज्ञान, व्याकुलता और सच्चापन इस नज़्म में बड़ी सादगी के साथ व्यक्त होता है।

अपनी एक नज़्म में वो इस बेघरी को बड़े फ़कीराना अंदाज़ में पेश करते हैं–

तेरे कूचे में बादशाही की
जब से निकले गदागरी की है
(गदागरी–भीख मांगना)

तेरा कूचा! यानी अपने मुल्क की गलियां! यहां फ़ैज़ बड़ी प्रतीकात्मकता से अपने देश को संबोधित करते हैं।

फ़ैज़ की शायरी के विषय में बार-बार कहा जाता रहा है कि उनकी शायरी की शब्दावली परंपरागत है। बेशक है, लेकिन इस परंपरागत मिज़ाज के अल्फ़ाज़ जब फ़ैज़ की शायरी में आते हैं तो वो अल्फ़ाज़ कितने रौशन-मिज़ाज प्रतीत होते हैं। दरअसल फ़ैज़, अल्फ़ाज़ को बरतने की सलाहियत जानते थे। वो शब्दों को रूढ़ नहीं होने देते। उन्हें मुहावरे में ढालकर चमक पैदा करते हैं और प्रतीक इतने अनोखे कि चकित कर देते हैं–उखड़ गई सांस पत्तियों की तथा राख चांद की तथा ओस का लहू तथा आख़री शब के हमसफ़र।–फ़ैज़, नायाब तरकीबों और तश्वीहों के शायर हैं।

'मेरे मिलने वाले' नज़्म में वो बिलकुल नई, नई से नई भाषा का प्रयोग करते हैं कि पूरे का पूरा मंज़र सामने आ खड़ा होता है। पहला मिसरा भी जैसे दूसरे मिसरे पर मर मिटने की तैयारी में हो–

ख़याल सू-ए-वतन रवां है
समंदरों की अयाल थामे

'समंदरों की अयाल'–जैसा प्रयोग इतना अनूठा है कि पूरी नज़्म और शायर का आत्मविश्वास जैसे यहीं टिका हो।

इस संग्रह में फ़ैज़ का आत्मसंघर्ष अधिक मुखर होकर सामने आता है। आत्मसंघर्ष तो फ़ैज़ की शायरी के मूल में है। प्रेम कविताओं में भी आत्मसंघर्ष है तो विश्व के दमित अवाम के लिए आवाज़ बलंद करते हुए भी आत्मसंघर्ष की झलक दिखाई पड़ती है।

फ़ैज़ की शायरी तरक्कीपसंद शायर की शायरी है और इन्सानी मुहब्बत, मानवतावादी जज़्बा, इस शायरी को हमेशा-हमेशा ताज़ादम रखेगा। फ़ैज़ की शायरी सर्वकालिक है। वो सरहदों को फलांगती हुई विश्व कविता बन चुकी है। फ़ैज़ की शायरी इकहरी नहीं। इसमें व्यापकता है। गहराई है। वेदना है। संगीतात्मकता है। सच्चापन और खरापन है।

फ़ैज़ के इस संग्रह–'मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर' में ग़ज़लें, नज़्में और पंजाबी की कुछ कविताएं भी हैं, लेकिन कोई भी कविता कमज़ोर नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि फ़ैज़ की प्रतिवादी कविताओं में भी शालीनता है। आक्रामकता है ज़रूर, लेकिन वो मुंहफट्ट नहीं। फ़ैज़ तहज़ीब के शायर हैं। वो जेल में हों या आत्मनिर्वासन की वेदना को झेलते हुए, हमेशा उच्च संस्कारित शायरी करते रहे। सपाटबयानी और फूहड़ता न उनके मिज़ाज में थी, न उनकी शायरी के मिज़ाज में है।

यह (फ़ैज़ की) शायरी, विश्व कवि की उत्कृष्ट शायरी है, जिसे पढ़ना, बहुत कुछ हासिल करने जैसा है। जिसे पढ़ना समन्दरों की अयालों को थामने जैसा है।

यह संग्रह उर्दू और हिंदी दोनों लिपियों में एक ही जिल्द में प्रकाशित हुआ है, जिसका ख़ैरमक़दम ज़रूरी है।

मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर (शायरी)/फ़ैज़ अहमद फ़ैज़/संपादक : मुहम्मद हसन, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 200

ज्ञानप्रकाश विवेक, 1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़, हरियाणा-124507 मो. 09813491654

स्त्री की अदम्य खोज

अरुण अभिषेक

युवा कवयित्री रंजना जायसवाल की कविताओं की खास विशेषताएं हैं कि वे स्त्री-मन के हर वह कोण देख लेती हैं या उन्हें टच करती हैं, जो सामान्यतया अव्यक्त या अकथ्य रहते हैं, क्योंकि ये स्त्रियां अपनी अस्तित्व स्थापना और जिजीविषा के मध्य स्त्रियां को चिह्नित करती हैं। साथ ही मन के भीतर स्त्री के उन अमूर्त्त चरित्रों को वह इस ढंग से खोलती हैं कि पुरुषों की मनोवृत्तियों के कई छद्म एक्सपोज होते हैं, तो दूसरी ओर रंजना की हमारे जीवन की दारुण विपत्ति, विडंबना, जटिल होते समय की चीख के साथ नैतिक संकल्प की कविताएं भी सामने आती हैं। उनका नवीनतम कविता-संग्रह 'जब मैं स्त्री हूं' एक अदद स्त्री की अदम्य खोज है।

आधुनिक भावबोध, परंपरा से कटता जा रहा है। उपभोक्तावाद के कारण मानवीय रिश्ते, अपनी सामाजिकता खोते जा रहे हैं। बाजार के वर्चस्ववादी दृष्टिकोण के नए मूल्य गढ़ने लगे हैं। संग्रह की पहली कविता 'जब मैं स्त्री हूं' के कई अंश पाठकों के मानस को, नई चुनौतियों से भरते हैं। दृष्टांत हेतु कविता की अभिव्यक्ति का यह उत्स महसूसें—''हमारे लिए बिना यह सवाल उठाए/कि हमारे नियामकों ने/स्वयं कितना पालन किया इन नियमों का/सवाल करने का हश्र होगा गार्गी या द्रौपदी सा।'' कोख से लेकर न्यूड देह का उपभोग करने वाली प्रवृत्तियां, वह सामंती पुरुष आज भी अपना तानाशाही रवैया रखे हुए है। कविता स्त्री के उस कष्ट को गंभीरता से उकेरती है। स्त्री की वह तमाम मनःस्थितियां सामने आती हैं, जहां से वह दबी नजर आती है। नजर आती हैं, ''क्योंकि स्त्री की चुप्पी से ही बना रहता है घर'' इस जगह कविता 'वे चाहते हैं' गौरतलब है कि 'चुप रहें स्त्री न टूटे परिवार।' और तो और पुरुष उससे यह अपेक्षा रखते हैं कि स्त्री को ''परम्पराओं का अंधानुकरण करना चाहिए।'' कविता स्त्री के प्रतिकूल पुरुषों की पूरी वर्चस्ववादी मनस्थितियों को महसूस करती है। तब स्त्री के भीतर की आग सामने आती है। वह स्त्रियां इन कविताओं में आती हैं—'अपनी आग को', 'बनता होगा कृष्ण', 'अपना जीवन', 'सच को', 'कठपुतलियां', 'जननी', 'मेरे प्रश्नों का उत्तर', 'बेटी का प्रश्न', 'सच', आदि। कविता 'सच' का यह अंश 'जितना पुराना है/स्त्री की/देह का भूगोल/उतना ही प्राचीन है/पुरुष की/हवस का इतिहास'—एक यथार्थपूर्ण सच ही तो व्यक्त कर रही है। यह व्यंग्य है, उस पुरुष सामंती मानसिकता

के विरोध में, जिन्होंने अब तक स्त्री देह का सांस्कृतिक मानक तैयार नहीं किया। कवयित्री अपनी कविता 'विमर्श' के माध्यम से इस द्वंद्व को विस्तार देती है कि ''सिर्फ देह नहीं/पर देह भी है स्त्री।'' जहां ''पुरुष की देह पर निर्भर रहा/कि कब कैसे कितनी देह बने स्त्री।'' निश्चय ही इन कविताओं की चेतना बिंब, संकीर्ण मनोभावों को तोड़कर, उन्हें सहज अनुभूति के साथ स्त्री-अस्तित्व और उनकी संवेदनाओं की परख करती है, जहां उन्हें तीखे संघर्ष और विरोधी आघातों से भी गुजरना पड़ता है।

शिक्षा की महत्ता को स्वीकारते हुए, उन उपेक्षित वर्ग की स्त्रियों की दास्तां, अब भी हमारे समाज में मौजूद है कि उनके लिए पढ़ाई से जरूरी रोटी की जरूरत ज्यादा अहमियत रखती है। कविता 'इको-फ्रेंडली हस्त निर्मित कागज बेचती लड़कियां' की यह तस्वीर कविता के इन आशयों में उभरती है कि—''पढ़ाई जरूरी है जानती हैं हम भी/पर रोटी से ज्यादा जरूरी नहीं है साहब।'' कॉरपोरेट संस्कृति में स्त्री का यह जीवन, सिस्टम को चुनौती भी देता है। इस दिशा में अगर कुछ है भी तो व्यवस्था की छद्म पहल ही। ऐसा क्यों? कब तक? तब कविता 'कपड़ा बेचती लड़कियां' का विद्रूप चेहरा यूं ही नहीं झलकता है। हां, यह आश्चर्य तब नहीं होता है, जब आज की गर्ल्स-सेल्समैन कुछ इसी तरह देह की भाषा में प्रस्तुत होती हैं। चाहे वह वस्तु की ब्रांड की ही क्यों न हो। फलस्वरूप कविता 'बागी हो गई है स्त्री' का स्वर मुखर होता है। 'अपने सारे दुःखों के साथ', 'वे कहते हैं', 'स्त्री बनाती है', 'संजो रखी है स्त्री ने', 'मार दी जाती है स्त्री', 'तीसरी दुनिया', 'स्त्री भागती रहती

है', 'चीख बन जाती है स्त्री', 'मेरी जड़ें', 'स्त्री ही है', 'दायरे' आदि कविताओं में वे स्त्रियां अपना आत्मावलोकन करती हुई, उन तमाम अंतर्विरोधों से भरे, इस जटिल होते समाज के खोखलेपन को दिखाने में कदापि संकोच नहीं करती हैं, क्योंकि वे स्त्रियां अपने अस्तित्व का अनुभव करते हुए और बेहतर समाज की संरचना की अपेक्षा रखती हैं।

स्त्री को उपभोक्तावादी मीडिया ने एक नया नाम, नया स्पेस दिया है। बावजूद कविता 'आजाद कौन' है, यक्ष प्रश्न की तरह मानस में उभर आती है, इन आशयों के साथ कि ''कैरियरिस्ट ये परियां/सोचती हूं क्या आजाद हैं ये/कि आजाद है/वह घसियारिन चंपा...।'' यह कविता स्त्री चंपा के माध्यम से उन पुरुष मनःस्थितियों का सिर्फ विरोध ही नहीं करती है, बल्कि विरोध के मुखर न होने की स्थिति की मनोदशा भी व्यक्त करती है। कविता 'मधुमिता' और 'आरुषि के लिए' इन्हीं यथार्थ के साथ, स्त्री के हक में आवाज उठाती है।

स्त्री के भीतर उनके एकांत रिश्तों के स्वर की पहचान की रंजना की कुछ कविताएं 'चाची', 'माधवी', 'भाई', 'सच-सच बतलाना', 'जब तक मां है', 'रमरतिया', 'मां फिर रोई', 'गोहरा पाथती स्त्री', 'मां का झुकना', 'औरत होना' अपनी वाजिब चिंता के साथ मौजूद हैं। वहीं स्त्री के भीतर उसके हक का कुछ हिस्सा कहीं बेबस है, तो कहीं अपनी प्रहारक क्षमता से जीवन से जुड़े चुनौतीपूर्ण सवाल भी उठाती है। जैसे कविता 'मां उदास थी' का यह अंश–''कि पुरस्कार/बेटे को नहीं/बेटी को मिला था।'' इसी क्रम में कुछ कविताएं पढ़ी जा सकती हैं–'स्त्री आदमी नहीं क्या!', 'जमीन' एवं 'ज्वलंत प्रश्न' आदि।

जब मैं स्त्री हूं/रंजना जायसवाल/नई किताब, बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089, मूल्य : ₹ 200

विवेकानंद कॉलोनी, पूर्णियां-854301, दूरभाष : 06454-228831

कविता

गवाक्ष खोलती कविताएं

अरुण नारायण

'समय का चंद्रमा' जितेन्द्र कुमार की 48 कविताओं का संकलन है। जिस तरह के अमूर्तन और वक्तव्य से आज की हिंदी कविताएं आक्रांत हैं, उसका यहां आपको अभाव दिखेगा। प्रतीक और सहज-सरल दोनों ही शैलियों में जितेन्द्र अपनी बात कहते हैं। संग्रह में अपवादस्वरूप ही आप ऐसी कविताएं पाएंगे, जो अपनी अभिव्यक्ति में किसी उलझाव या अमूर्तनता में फंसी हों। संकलन अपने साफ-शफाफ कथन, राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय राजनीति के पेचोखम, इस्लामिक देशों की राजनीति, वैश्वीकरण और गांव-पड़ोस के अनुभव सहित स्त्रियों के स्याह और सच से हमें वाबस्ता कराता है। यहां पास-पड़ोस में दादा, दीपा मुर्मु, अरमी हुसैन, भोला, इराकी बालक एवं अली अब्बास आदि कई चरित्र कविताई के स्वरूप में कथ्यात्मक तेवर में आए हैं, अपनी पूरी जद्दोजहद के साथ। मुझे याद नहीं पड़ता कि हाल में कोई ऐसी कविता पुस्तक मैंने पढ़ी हो, जो अपने अभिव्यक्ति कौशल में इतनी परिपक्व और सधी हुई हो। वर्तमान न्याय व्यवस्था कितनी लचर-पचर है, इसको समझना हो तो गौर करें इन पंक्तियों पर–

''अद्भुत फैसले का यह समय है/जमीन का केवारमा अवैध है, लेकिन जमीन पर अवैध कब्जा वैध है।''

दैनंदिन जीवन में इस तरह के ढेरों साक्ष्य हमें दिखलाई पड़ते हैं। बहुत सारे मसलों में तो कोर्ट का निर्णय तक हो जाता है फिर भी पुलिस प्रशासन को पैसे देकर लोग अवैध कब्जा जमाए रहते हैं। यह जोर-जर्बदस्ती और अनैतिक रूप से कब्जा जमाने की प्रवृत्ति आज के समय का अनिवार्य सत्य बन गई है, जिसे कवि जितेन्द्र ने कुछेक पंक्तियों में ही ठीक से रख दिया है।

बिहार के बहुत कम कवियों ने नरसंहार विषयक समस्याओं पर लिखा है। जितेन्द्र ने यहां 'जमीन पर' और 'अठारह मार्च' सरीखी जो कविताएं लिखी हैं, वह इसी अनुभव संसार का साक्ष्य कही जा सकती हैं। 'जमीन पर' शीर्षक कविता में कवि लिखता है–

''सार्वजनिक करना चाहते हैं जमीन को/हवा पानी,धूप की तरह/जमीन की लड़ाई को उन्होंने ला दिया है जमीन पर/घुस गया है हर घर में बथानी टोला/ग्यारह जुलाई, 1996 के बाद।''

सत्तातंत्र के परस्पर बदलते हुए रूप संग्रह की कई कविताओं में मुखर हुए हैं। 'खेल में फाउल', 'वीरप्पन', 'लू से जलते लोकतंत्र में', 'राजा', 'मेरी जीभ मत काटो मेरे आका' आदि कई कविताएं राजनीतिक

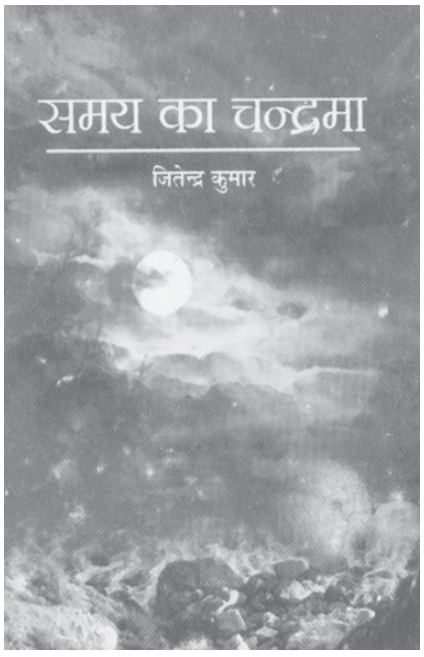

पतनशीलता के अलग-अलग रूपों को दर्ज करती हैं। राजनीति में छल-छद्म के जो अनैतिक व्यापार विकसित हुए हैं, उनमें खेलों की तरह ही जटिलतर स्थितियां पनपी हैं, आम आदमी की कीमत पर जो राजनीति विकसित हुई है और पिछले दो-तीन दशकों में भंडारण के नाम पर लालू प्रसाद ने सुविधाभोग की जो अराजकता फैलाई है, वे रूप इन कविताओं में विस्तार से आए हैं।

जितेन्द्र की संपूर्ण कविताओं का केंद्र बिंदु राजनीति और उसमें आम आदमी की हिस्सेदारी को लेकर है। दोनों में गहरा संबंध इस अर्थ में है कि राजनीति का काम था आम आदमी की जीवन स्थितियों में सुधार लाने का, लेकिन वह अपने दायित्वों से कटती गई, इसके परिणामस्वरूप ही असमानता, दरिद्रता और गैरबराबरी की खाई बढ़ी।

जितेन्द्र की कविताओं में परंपरा और समकालीनता, दोनों पर अचूक पकड़ दिखलाई पड़ती है। उनकी कविताओं में कहीं भी प्रबल भावावेग आपको नहीं दिखेगा। बहुत संतुलित ढंग से विचार उनकी कविताओं में उपस्थित होते हैं। संग्रह में व्यक्तिकेंद्रित कविताओं का भी अपना एक अलग तेवर है। अली हुसैन, भोला, अली इमाम अब्बास और 'बामियान में बोधिसत्व' सरीखी कविताओं को देखें तो 'बामियान में बोधिसत्व' को छोड़कर शेष कविताओं में कवि हाशिये के आदमी की नियति को देश की 60वीं वर्षगांठ से जोड़कर जनतंत्र के नजरिये से पड़ताल करता है। जिस आम बेबस आदमी की बेहतरी की कीमत पर जनतंत्र और उसके अंदर की सारी व्यवस्थाएं अस्तित्व में आईं, वह दिन-ब-दिन किस कदर बेबस और लाचार होता गया, यह चिंता का विषय है। 'बामियान में बोधिसत्व' कविता तो बुद्ध के बहाने धार्मिक कट्टरता के बढ़ते प्रभाव को उद्‌भेदित करती है। जाति-व्यवस्था के विरुद्ध शंखनाद करने वाले बुद्ध को जिस आध्यात्मिकता में जकड़ दिया गया, उस पर इस कविता में कवि की टिप्पणी है–

''तुम भावुकता और आध्यात्मिकता के प्रतीक नहीं थे/शारीरिक सौष्ठव एवं बौद्धिकता के/मानवीय गरिमा के/सामाजिक नैतिकता के/उत्कृष्टत सांस्कृतिक नमूना थे।''

गांव पर लिखी कविताओं में एक तरफ स्त्रियां हैं तो दूसरी तरफ दिहाड़ी मजदूर और वृद्ध भी। 'दादा की तीन आंखें' प्रतीकात्मक ढंग से विकसित होती है। कविता की पंक्ति है–

''तीसरी आंख का दर्प/डसता रहता है वर्तमान को/अतीत के अहम का सर्प।''

''मेरे गांव की अंगूठा छाप औरतें' ग्राम्य समाज के अनुभव संसार को बारीकी से उपस्थित करती हैं। कविता की पंक्ति है–

''चूल्हे की आग में भात समान पकती हैं/कूटान पीसान करती हैं/ढेकी में कूटती हैं जीवन/सावन में रोपनी के गीत गाती हैं/तालाब के शांत जल में उठती है तरंग/उनके गीतों की लय से/खेतों से खलिहान तक ढोती हैं/पेट की भूख/वे सरित की नीर हैं/उनकी आंखों में रूढ़ियों की पीर है/मनुज के पिता के लिए उनके वक्षों में/क्षीर है।''

स्त्रियों के अनुभव संसार की यह गहराई इसी तरह 'दीपा मुर्मू' में भी बहुत सलीके से उभरी है। 'प्रेम के मोती' और 'सहनवा' कविता को पढ़ते हुए कवि की गांव विषयक चिंताएं गहरे प्रभावित करती हैं। जितेंद्र भोजपुरी क्षेत्र से आते हैं। इन कविताओं में भोजपुरी शब्दों का ठाठ कई जगहों पर दिखता है।

समय का चंद्रमा/जितेन्द्र कुमार/किताब पब्लिकेशन, हाजीपुर रोड, मुजफ्फरपुर-842002/मूल्य : ₹ 125

अरुण नारायण, हिन्दी प्रकाशन, उपभवन, बिहार विधान परिषद्, पटना-800015, मो. 9934002632

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

जीवन के रूप, रंग और गंध की कविता

हीरालाल नागर

'कुछ शब्द कुछ लकीरें' कवि विश्वजीत का पहला कविता-संग्रह है, जिसे पेंगुइन यात्रा बुक्स ने प्रकाशित किया है। संग्रह का सादा आवरण देखकर लगता है कि शायद कविताएं भी मामूली होंगी, मगर कवि की कविताएं इस मिथ को तोड़ती हैं, क्योंकि सादे आवरण में विश्वजीत की असाधारण कविताएं हैं। जैसे मिट्टी की गुल्लक में बहुत सारे मोती भरे हों, जिनमें दृष्टि और चिंतन की अभूतपूर्व चमक है। इनकी चमक को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। देखें यह कविता–'दूर अंधेरे तक दिख रहे/जलते हुए दीये/अंधकार को छेदते हुए/छोटे-छोटे कण प्रकाश के/मानो एक नन्हे बच्चे की हथेलियों के पीछे से/चमकें उसकी आंखें/जैसे मन के चिंतन आनंद को बिखराते हुए।'

विश्वजीत कवि हैं और विश्वजीत सिंह एक राजनेता। विश्वजीत अचानक हिंदी कविता लिखने लगे। कविताएं पहले अंग्रेजी में लिखते थे। जब हिंदी में लिखना शुरू किया तो उनकी खुशी का पारावार न रहा। उनका मन और हृदय बल्लियों उछलने लगा। उन्हीं के शब्दों में, 'यह सब बदल गया, जब मैंने पहली बार हिंदी में कविता लिखने का प्रयास किया। मैंने अचानक जाना कि विचार भले ही यही थे, जो मैं अंग्रेजी में लिखता था, परंतु शब्दों की लहरें किसी और रंग की थीं। जहां अंग्रेजी के मेरे शब्द फीके थे, वहीं हिंदी में पिरोए शब्द बहुरंगी माला जैसे निकल रहे थे।' हिंदी में कविता लिखने की यह खुशी बहुत कम देखने को मिलती है, इस समय तो बिलकुल भी नहीं, जबकि लोगों का रुझान अंग्रेजी की तरफ हो। लेखक के इस कथन पर गर्व किया जा सकता है। कवि विश्वजीत अपनी कविता में इतना यकीन पैदा करते हैं कि उनकी काव्य सादगी पर कुर्बान होने का जी करता है, जैसे कि कविता की ये पंक्तियां, 'मेरे लिए तो वह छोटा-सा नाला ही बहुत है/जहां एक बच्चे के हाथों बनी कागज की नाव/कभी तैरे/कभी किनारे पर जा रुके।'

एक स्तर पर कवि की अधिकांश कविताएं नई संवेदनाओं और विचारों से लैस लगती हैं। कुछ अतीत की स्मृतियों में भीगी हुई-सी तो कुछ खुद को सुकून देती हुई सी। जैसे यह काव्य पंक्तियां–'मेरे लिए तो/मेरे कमरे की दीवारों पर/पुरानी सफेदी के धब्बे से उभरते हैं/हर चित्र/हर भाव...'

विश्वजीत ने फ्रांसीसी कवि रिंबो की याद में एक बेमिसाल कविता लिखी है, जिसका शीर्षक है–'नहीं चाहिए', जिसमें

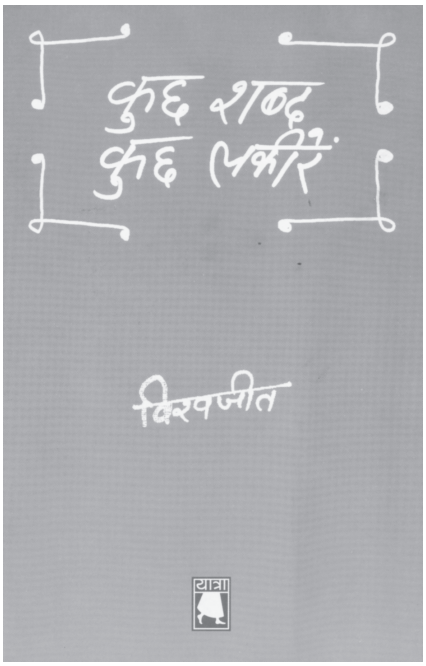

उनकी वैचारिक और व्यावहारिक जिंदगी का खास पहलू उजागर होता है–'नहीं चाहिए मुझे महासागर/जिसके तट पर बसे हों महासागर/मनुष्यों के इतिहास के प्रतीक/नहीं चाहिए मुझे यह दरिया/जिसके तट पर जले हों शव प्राचीन योद्धाओं के/नहीं चाहिए मुझे ये तीर्थस्थान/जहां पसीने की कमाई/लालच के कुंड में होम हो जाती है...।' (पृ. 17)

इक्कीसवीं सदी के इस दौर में हिंदुस्तान के मध्यवर्ग ने जिस जीवन-शैली को अपनाया हुआ है, उससे लगता है कि नई पूंजीवादी व्यवस्था में उनका बेदाग रह पाना असंभव नहीं तो कठिन जरूर है। भ्रष्टाचार, अनाचार और व्यभिचार की संस्कृति ने अपने पैर पसार लिए हैं, उससे समाज पतनशीलता के सबसे खतरनाक दौर में पहुंच चुका है। चकाचौंध भरे इस अंधकार से कवि विश्वजीत अच्छी तरह वाकिफ हैं। शायद इसलिए वे अपनी जड़ों की तरफ लौटने की बात बार-बार करते हैं। वे अलाव की उस आग की गर्माइश का भरपूर आनंद लेते हैं, जो उन्हें अपने घर से मिल रही है। वे खुद से सवाल करते हुए कहते हैं–'ठंठी रात में/अपने गर्म कमरे को छोड़कर खुले मैदान में/क्यूं तापता हूं आग?/ठंडे हाथों से गर्माते/चेहरे को सेंकते/लपटों में दिखते/हवा के झोंके/मानो समुद्र की लहरें/आग की अनेक उंगलियां/कभी उभरतीं/कभी भस्म हो जातीं/अपने क्षणिक जीवन में/अपना नाच दिखातीं/मेरे मन में/अपना छाप लगातीं/इसीलिए मैं/ठंडी रात में/अपने गर्म कमरे को छोड़कर/खुले मैदान में/तापता हूं आग...'

संग्रह में केवल शब्द ही शब्द नहीं हैं, कुछ लकीरें भी हैं, इसलिए संग्रह का नाम 'कुछ शब्द कुछ लकीरें' है। एक तरफ

कविताएं हैं तो दूसरी तरफ कुछ लकीरें। कविता के साथ लकीरों के सामंजस्य को समझने की जरूरत है। कविता को पढ़ते हुए लकीरों के हावभाव को कैसे समझा जा सकता है, इसके लिए उनकी कविता 'खोज' में उभरे भावदृश्य को पढ़ना दिलचस्प होगा। आप देखें–'हरी घास पर ओस की बूंदें/अंधेरे में रात की रानी की खुशबू/टीन की छत पर बारिश पर बारिश की आवाज/गरम दूध की आरामदेह महक/इन्हीं में ढूंढ़ता हूं अपना बचपन।' (देखें पृ. 30-31)

कवि अपने अतीत और वर्तमान से लगातार जूझता है। बचपन की स्मृतियां ही उन्हें सजग रचनाकार बनाती हैं। इस तरह वे उदात्त भावचित्रों की कविताएं लिख जाते हैं। जैसे कि उनकी 'बचपना' कविता। इसमें कवि का वर्तमान साकार होता है तो बचपने में उनका अतीत, जिसमें जीवन की विडंबनाएं अपने आप उजागर हो उठती हैं–'आज तुम खफा हो गई/जब मैंने/सबके सामने/बचपने की कोई हरकत कर डाली/मैं तो अक्सर ऐसा ही करता हूं/भूल जाता हूं मैं बूढ़ा हो गया/चाहे बदन बुढ़िया गया/ दिमाग अभी भी मानता नहीं/छोटी-छोटी बातें मुस्कान लाती हैं/घास पर लेटे बादल देखना/ बारिश में भीगना/नदी किनारे बैठ पानी में पांव चलाना/चलती गाड़ी की खुली खिड़की से हवा खाना और/भरे कमरे में गंभीर चेहरों का भार महसूस करते/शरारत कर डालना/पर तुम क्यों नाराज़ होती हो/मुझे अभी अच्छी तरह याद है/यही तो बचपना है/जो तुम्हें मेरी ओर खींच लाया था/भीतर तो वही बच्चा है/शरीर है जो धोखा दे गया...' (बचपना, पृ. 41) कविताओं के बारे में कवि अशोक वाजपेयी का यह कथन उल्लेखनीय है, 'ये कविताएं एक तरह की सतर्क-सजग डायरी हैं। लेकिन उसमें प्रकृति, नश्वरता, प्रेम, संबंध, सामाजिक यथार्थ, आत्मप्रश्नांकन आदि हैं, वैसे ही जैसे कि आज की कविता में है।'

विश्वजीत की एक और कविता है–'गुंबद', जिसे पढ़कर श्रीकांत वर्मा की कविताओं का स्मरण हो आता है, जिसमें कवि का राजनीतिक बोध जाग्रत दिखाई देता है। कविता इस प्रकार है–'गुंबद के तले ये कैसे चेहरे हैं?/कैसी आवाजें हैं?/भिन्न-भिन्न भाषाओं में/यह कौन-सी सभा है?/क्या लोग इसको पहचानेंगे?/शब्दों की ये लहरें/किस किनारे जा रुकेंगी?/ये आवाजें न तुम्हारी हैं न हमारी/हम तो सदा मौन ही रहते हैं।' (पृ. 51)

विश्वजीत मानवीय चेतना के जागरूक कवि हैं। वे किसी फैशन के तहत आम आदमी की बात नहीं करते, मगर अपने इतिहास बोध के रहते ढहती पुरानी इमारत में वे इस अहसास को जगाते हैं। भले ही इसे नश्वरता का नाम दिया जाए, मगर साम्राज्यशाही के ढहते कंगूरों का कवि ने अपनी इस कविता में खूबसूरत कोलाज प्रस्तुत किया है–'राजमहल के मोटे-मोटे दरवाजों में लगाई जो सेंध दीमकों ने/छेदों से दिख रहे/धूल से भरे झाड़-फानूस/पहरेदारों की वर्दियों के कोनों से लटक रहे/उघड़ते धागे/बगीचे पर/जंगली झाड़ियों का कब्ज़ा/क्यारियों के फूल/कब के बिखर चुके/वैसे ही/जैसे इस इमारत के इतिहास के पन्ने। (पृ. 57) 'उन्हें क्या पता', 'भवन', 'आज के राजा', 'पार्टी', 'मध्यवर्ग' आदि इसी तरह की कविताएं हैं, जिनमें जनतांत्रिक मूल्यों की पैरवी, आम आदमी के महत्त्व और मध्यवर्ग के हालात पर कवि ने दृष्टिपरक टिप्पणियां की हैं।

संग्रह में कवि की कुल 45 कविताएं हैं। कहीं ऐसा नहीं लगता कि वे आपस में विभाजित हैं, मगर कवि ने उनका आंतरिक विभाजन विचार, भाव और वस्तुगत विशेषताओं के आधार पर बड़ी बारीकी से किया है, पर यह मर्म फौरन समझ में नहीं आता। कहीं महीन धागों में पिरोए सपने, कहीं स्मृतियों में सांस लेता बचपन, कहीं अनुभव की डाल पर खिला-खिला यथार्थ और कहीं ताजे बिंबों पर प्रकृति का शालीन ऐश्वर्य–सभी कुछ असाधारण-सा लगता है। कवि की एक कविता है–'बूढ़ा कस्बा'। इस कविता में एक कस्बे का मानवीकरण देखते ही बनता है कि यह तय कर पाना मुश्किल है कि कविता बूढ़े कस्बे पर है या बूढ़े आदमी पर, मगर दोनों स्तर पर जीवन अभिव्यक्त होता है। 'सफेद धूल मानो पके हुए बाल/दीवारों की दरारें/मानो चेहरे पर आयु और अनुभव की लकीरें/डगमगाती पत्तियां मानों लड़खड़ाते कदम/गिरते हुए मकान मानो ढलती जवानी/तालाब आया सूख जैसे आंखों में खुश्की छाई हुई/इन्हीं से बना है/बूढ़ा/हमारा कस्बा। 'बारिश के रंग', 'ऐसे ही दिन में', 'तड़के का प्रकाश', 'यथार्थ', 'अपना जीवन, अपनी दुनिया' आदि कवि की जीवनानुभवों से समृद्ध कविताएं हैं। कवि के 'तड़के का प्रकाश' एक असंभव कविता लगती है। इसका उल्लेख इसलिए जरूरी है कि यह सृष्टि के रंग, रूप और गंध के जज्बे से नहाई हुई कविता है। 'धीरे-धीरे आती है रात/दबे पांव चलते/ चुपके-चुपके–चुपके/ छुपके मिलते हैं/अंगों के अक्षर/रचते हैं भाषा के नए-नए शब्द/करते हैं एक-दूसरे से बातें/गुपचुप गढ़ते हैं/नित नया शब्दकोश/रुकते/जब लज्जा की चादर ओढ़े/आता है तड़के का प्रकाश।' विश्वजीत की कविताएं अपने रचाव और अभिव्यक्ति में मौसम के ताजे फूल की तरह हैं, जो अपनी गंध और अपने रूप से पूरे परिवेश को गमका देता है। अगर नजर पड़ेगी तो आप भी इसका स्वागत किए बगैर नहीं रह सकते।

कुछ शब्द कुछ लकीरें (कविता-संग्रह)/विश्वजीत/ यात्रा बुक्स, 203, आशादीप अपार्टमेंट्स, 9 हेली रोड, नई दिल्ली-110001/ मूल्य ₹ 150

बी-174-41 सी, सादतपुर विस्तार, गली नं. 2, करावल नगर रोड, दिल्ली-110093
मो. 9868558795

मनुष्य के लिए जीने और मरने वाला कवि : मैथिलीशरण गुप्त

भारत यायावर

कवि केदारनाथ सिंह को 1989 ई. में जब 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार' मिला था, तब उन्होंने पुरस्कार ग्रहण करते समय जो वक्तव्य दिया था, उसमें उनकी कई स्वीकारोक्तियां हैं। एक जगह उन्होंने इसमें एक छोटी-सी घटना का उल्लेख किया है, ''कोई दो साल पहले जब गर्मी की छुट्टियों में गांव गया था, तो एक दिन अचानक एक वृद्धजन से भेंट हो गई, जो गांव के अनुभव में पके हुए कर्मठ किसान थे। मैंने प्रणाम किया तो हँसते हुए बोले, 'सुना है, कवित्त लिखित हो।' मैं जानता था 'कवित्त' से उनका मतलब कविता से ही है। मैंने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया! अस्तु, हाथ जोड़े और आगे बढ़ गया, पर अपने समाज में अपनी विडंबनापूर्ण स्थिति का सबसे तीखा बोध मुझे उसी दिन हुआ।'' केदारनाथ सिंह ने जो बात महसूस की है, वह लगभग उनके सभी समकालीन कवियों पर लागू होती है। उनकी कविताएं उनके ही गांव-घर के लोगों के लिए अजनबी हैं। उनमें संप्रेषण की समस्या है।

हिंदी के सुधी समालोचक और कविता की मर्मज्ञता की परख रखने वाले नंदकिशोर नवल की 'मैथिलीशरण' पर लिखी सद्यः प्रकाशित पुस्तक पढ़ते हुए मुझे केदारजी का यह संस्मरण अनायास याद आ गया। क्या ऐसी विडंबनापूर्ण स्थिति का सामना स्वाधीनता-संघर्ष के दौर के कवियों ने भी किया था? क्या उनके सामने भी संप्रेषण की ऐसी ही समस्या थी, यह विचारणीय प्रश्न है। हिंदी की जातीय कविता वाचिक परंपरा की कविता है। कबीर, सूर, जायसी, मीरा, तुलसी से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक। अज्ञेय ने अपनी पुस्तक 'सर्जना के क्षण' की भूमिका में लिखा है, ''मेरे गुरु मैथिलीशरण गुप्त स्थानीय वाचिक परंपरा के अंतिम कवि थे।'' यही उनकी कविता की शक्ति थी, जो उनकी कविता को सरस, तरल, कोमल, मार्मिक और आत्मीय बनाती थी, जिसके कारण आधुनिक काल के वे पहले कवि थे, जिनकी कविताएं सुदूर गांव के किसान भी गाते थे और धीरे-धीरे वे जन-जन में वयाप्त हो गई थीं। उनकी कविता की पुस्तकें व्यापक जन-समुदाय में पढ़ी ही नहीं जाती थीं, बल्कि सुनी और सुनाई जाती थीं। कुछ लोग उनकी कविताओं का सस्वर पाठ करते थे और अनेक श्रोता मंत्र-मुग्ध होकर सुनते थे। हिंदी में जैसे-जैसे वाचन की परंपरा गौण होती गई, कविता का पाठक-वर्ग सिकुड़ता गया।

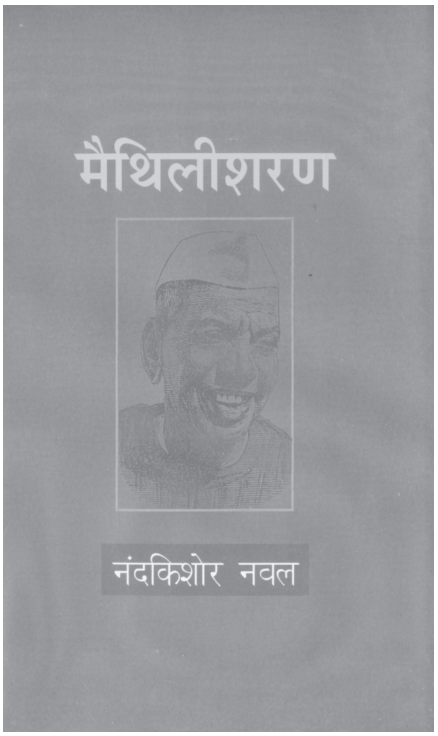

आज जब गुप्तजी को साहित्य-विवेचक कवि ही नहीं मानते, नवलजी ने उन पर एक बड़ी आलोचना की पुस्तक लिखकर अपने साहस का परिचय दिया है। उनकी कविताएं हिंदी के परिदृश्य से धीरे-धीरे गायब हो रही हैं। उनकी चर्चा करना पिछड़ेपन की पहचान है। उनके जीवन-काल में भी कला के पारखी लोग उन्हें मात्र तुक्कड़ कवि मानते थे। वामपंथियों ने उन्हें हिंदू पुनरुत्थानवादी कहकर उनका नकार किया। उनकी किताबें हिंदी के कोर्स से हटाई जा रही हैं और उनकी जन्मशती के अवसर पर पूरे सम्मान के साथ नामवर सिंह जैसे कविता के मर्मी आलोचक भी उनकी काव्य-पंक्तियों को निरा गद्यवत्, तथ्यात्मक और इकहरा स्थापित कर यह तर्क देते हैं, 'निश्चय ही गुप्तजी ने 'भारत-भारती' की लोकप्रियता के बाद काव्य में द्विवेदी-युगीन 'गद्यात्मकता' से मुक्त होने की कोशिश की, किंतु यह कोशिश उनके कनिष्ठ समकालीन छायावादी कवियों की तरह ही ब्रजभाषा के मुकाबले खड़ी बोली को भी कोमल और मधुर बनाने की थी। कोमल और मधुर वह जरूर हुई, साथ ही संवेदनशील, व्यंजक और मूर्त भी, पर इस प्रक्रिया में वह चित्र और संगीत हो गई। सब कुछ हो जाने और पा जाने पर भी नहीं रही तो भाषा, जो कि कविता का अपना धर्म है, जिसमें एक मनुष्य दूसरे से संवाद करता है।''

नामवर सिंह यह भी स्वीकार करते हैं कि गुप्तजी मूलतः अभिधा के कवि हैं। अभिधा के समर्थ कवि। विडंबना यह है कि 'हम कौन थे, क्या हो गए' यह उक्ति किसी समय सबकी जबान पर थी। अंतस्तल की कितनी गहराई से, कितनी पीड़ा के बीच से यह उक्ति निकली होगी, इसकी ओर ध्यान

कम जाता है।

मैथिलीशरण गुप्त अभिधा के समर्थ कवि थे और उनकी वाणी उनके अंतस्तल की गहराई से निकली थी और भारतीय जनता से संवाद करती हुई, उनमें एक प्रकार की लहर और तरंग पैदा करती हुई, जितनी आत्मीयता स्थापित कर चुकी थी, लोगों की जुबान पर चढ़ चुकी थी, इसका एक इतिहास है। गद्यवत, इकहरी और तथ्यात्मक होते हुए भी उस कविता में ऐसी शक्ति है कि मुक्त मन से आज भी उसका वाचन करने पर वह सहज ही हमारे भीतर अपनी जगह बना लेती है। यही उसकी सार्थकता है। मैथिलीशरण गुप्त की कविता लोगों को आज प्रासंगिक नहीं लगती। इसका मुख्य कारण है, स्वाधीनता-संघर्ष के मूल आदर्शों का क्षरण हो जाना। आज यदि उन आदर्शों एवं मूल्यों का पुनः अवगाहन किया जाए, तिलक और गांधी को आज के समय और यथार्थ से टकराते हुए प्रस्तुत किया जाए, तो मैथिलीशरण गुप्त की कविता पुनः जगमगा उठेगी। उनकी कविता भारतीय अस्मिता को उद्भासित करती है। उसमें मनुष्य एवं उसके बेहतर जीवन के लिए एक तड़प है। उनकी कविता में भारतीयता की खोज और अन्वेषण है। त्याग, तप है, चिंतन-मनन है और कर्मशीलता का आह्वान है। भारतीय संस्कृति का अवगाहन है। उनकी कविता में अतीत और वर्तमान का द्वंद्व है। उनकी कविता राष्ट्रीय जागरण का छंद रचती है। उनका वैष्णव-मन पराई पीड़ा को गहराई से महसूस करता है। उनमें सभी धर्मों, मतों, वादों से सार-तत्व ग्रहण करने का एक उदार हृदय है। वे सीधी राह चलने के हिमायती हैं। सरलता और सहजता की उनकी साधना कथा-साहित्य के शीर्षस्थ हस्ताक्षर प्रेमचंद के समानान्तर (कवि के रूप में) उन्हें खड़ा करती है।

मैथिलीशरण गुप्त की कविताएं सत्रह वर्ष की उम्र से ही छपने लगीं। 1905 ई. से उनकी कविताएं 'सरस्वती' में लगातार छपीं और चार वर्षों में ही एक लोकप्रिय कवि के रूप में उन्होंने हिंदी कविता में अपनी जगह बना ली। जिस खड़ी बोली में कविता करना अधिकांश कवियों के लिए कठिन था, उस भाषा को उन्होंने लचीला और तरल और सुपाठ्य बनाया। 23 वर्ष की उम्र में उन्होंने 'रंग में भंग' और चौबीस वर्ष की उम्र में ही 'जयद्रथवध' लिखा। छब्बीस वर्ष की उम्र में 'भारत-भारती' लिखी। 1916 ई. में 'साकेत' के दो सर्ग 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए, किंतु यह 1931 ई. में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। ठीक इसके एक वर्ष बाद 'यशोधरा' का प्रकाशन हुआ। उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियां हैं—दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र, हिंदू, अर्जन और विसर्जन, भूमिभाग, राजा-प्रजा, वैतालिक, विश्व-वेदना, जय भारत, विष्णुप्रिया, द्वापर, सिद्धिराज, स्वदेश-संगीत, झंकार आदि। इन मौलिक काव्य-पुस्तकों के अलावा उन्होंने कुछ काव्य-नाटक भी लिखे हैं एवं बांग्ला की कई महान काव्य-पुस्तकों के काव्यात्मक अनुवाद भी किए हैं।

1886 ई. से प्रारंभ उनकी जीवन-यात्रा 1964 ई. में समाप्त हुई। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक से प्रारंभ हुई उनकी कविता-यात्रा सातवें दशक में समाप्त हुई, तब छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता जैसे काव्य-आंदोलन प्रारंभ हुए और हिंदी साहित्य में अपनी-अपनी जगह बनाकर टिक गए। इस तरह मैथिलीशरण ने अपने जीवन-काल में ही हिंदी कविता को अनेक प्रकार के रूप और रंग बदलते देखा। उनके दिवंगत होने पर राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने कहा था—गुप्तजी तीन पीढ़ियों के कवि हैं। मैं, मेरे पुत्र और मेरे पौत्र—तीनों ने गुप्तजी की कविता से हिंदी भाषा का संस्कार पाया है। दिनकर ने उन्हें 'अतीत में झांककर वर्तमान को उद्घाटित करने वाला कवि' कहा है। महादेवी वर्मा ने गुप्तजी को 'कविता की ऋजुरेखा और भाषा की आकाश-गंगा' माना है। अज्ञेय ने अपने हिंदी भाषा के संस्कार और कविता के प्रति रुचि जगाने के कारण इन्हें अपना काव्य-गुरु माना है। हिंदी कविता के ऐसे पुरखे के काव्य के प्रति गहरी उदासीनता के वातावरण में नंदकिशोर नवल ने त्रिलोचन की इस शिकायत कि ''गुप्तजी के रचनात्मक प्रयोगों का पूरी तरह आकलन करके काम होना बाकी है'' को चुनौतीपूर्वक स्वीकार कर समग्रता में द्विवेदी-युग के कवियों के अवदान के परिप्रेक्ष्य में उनका वस्तुपरक मूल्यांकन किया है।

नवलजी की स्थापना है कि गुप्तजी मूल रूप से एक नवक्लासिक कवि थे। प्रबंध के क्षेत्र में जितने प्रयोग किए जा सकते थे, उन्होंने किए। उनकी भाषा अनेक सांचों की है, इसलिए उनका आकर्षण अचूक है। छंदों को लेकर उनमें कोई पूर्वग्रह न था और वे सिर्फ यह देखते थे कि प्रस्तुत कथा-प्रसंग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त छंद कौन-सा है। उन्होंने 'प्रस्तुत' में ही कविता देखी है, अप्रस्तुत में नहीं। वे शब्द-रचना में अत्यंत पटु थे। उनके बाद हिंदी काव्य-भाषा का विस्तार दो कवियों ने किया है—निराला और मुक्तिबोध।

यहां ध्यान देने योग्य यह बात है कि नवलजी मुक्तिबोध और निराला की कविताओं का समग्रता में आकलन करने के बाद मैथिलीशरण तक पहुंचे। इसीलिए उन्होंने गुप्तजी की कविताओं के अनेक वैसे स्थल ढूंढ़ निकाले हैं, जो कुछ रूप बदलकर निराला और मुक्तिबोध में दिखलाई पड़ते हैं। नवलजी ने उनकी कविता में प्रासादिकता, ओजस्विता और माधुर्य के अनेक स्थलों का उद्घाटन किया है। वे बीसवीं शताब्दी के इन तीनों कवियों पर अपने विचार इस प्रकार रखते हैं—जैसे निराला में शाब्दिक स्तर पर कठिनाई है और मुक्तिबोध में संकल्पना के स्तर पर, वैसे ही गुप्तजी की कविता ऊपर से नीरस प्रतीत हो सकती है, पर उसके भीतर गहन संवेदना की निर्झरिणी प्रवाहित रहती है। वे खड़ी बोली को उसकी पूरी रुक्षता और माधुर्य के साथ कविता में प्रयुक्त करने के पक्ष में थे। ये यथास्थिति के विरुद्ध सामाजिक और राष्ट्रीय विद्रोह के कवि थे। वे प्रबंधकार होते हुए भी महान प्रयोगधर्मी कवि थे। मैथिलीशरण गुप्त हिंदी के पहले कवि थे, जिन्होंने कविता को सर्वजनसंवेद्य बनाया।

नवलजी ने मैथिलीशरण को एक आलोचक की दृष्टि से ही नहीं, वरन् एक कवि की संवेदनशीलता के साथ जांचा-परखा है और उनकी कविता को समग्रता में आकलन कर ऊंचे आसन पर बिठाया है। गुप्तजी पर 'इतिवृत्तात्मक पद्यों का ढेर लगाने वाले कवि' का आरोप लगाने वाले आलोचकों को उत्तर देते हुए नवलजी कहते हैं—गुप्तजी द्वारा किया गया व्यवहार या उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण खड़ीबोली गद्य का मात्र पद्य में रूपांतरण नहीं था, बल्कि

उसमें उच्च कोटि का कवित्व था, जिसे शिद्दत के साथ हिंदी के पाठकों ने ही नहीं, विद्वानों ने भी महसूस किया। वह काव्यत्व 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' में तो था ही, वह 'भारत-भारती' में भी आद्यंत मौजूद था, क्योंकि वह भी कवि की सैद्धांतिक नहीं, बल्कि 'भावात्मक' प्रतिक्रिया की देन था। यह गुप्तजी का 'सृजन' था, जिसे स्वभावतः हिंदी क्षेत्र में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई और उन्होंने हिंदी भाषी जनता के हृदय पर अधिकार कर लिया। यहां आकर 'ऐतिहासिक महत्त्व' और 'साहित्यिक महत्त्व' का फर्क मिट जाता है। यह असंभव है कि कोई कवि भाषण देकर या लेख लिखकर कविता की धारा को मोड़ दे। उसके लिए उसका स्वयं अत्यंत समर्थ कवि होना जरूरी है। उन्होंने अपनी अपरिमित सृजन-क्षमता से खड़ी बोली में काव्य-रचना का मार्ग प्रशस्त किया और उसे नए-नए आयाम प्रदान किए।

आधुनिक हिंदी कविता के पहले पुरोधा कवि मैथिलीशरण गुप्त थे, जिनकी वाणी मनुष्यता का पाठ पढ़ाती है, प्रेम-सद्भाव का भाव जगाती है और निरंतर उत्प्रेरित करती रहती है। हिंदी जनता को सदैव उनकी अमर वाणी को अपने हृदय में जगह देते हुए उनकी इन काव्य-पंक्तियों को सुनना और गुनना चाहिए–

चलो अभीष्ट मार्ग पर सहर्ष खेलते हुए
विपत्ति, विघ्न जो पड़ें उन्हें ढकेलते हुए
घटे न हेलमेल हां, बढ़े न भिन्नता कभी,
अतर्क एक पंथ के सतर्क पंथ हों सभी,
तभी समर्थ भाव है कि तारता हुआ तरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।

मैथिलीशरण/नंदकिशोर नवल/राजकमल प्रकाशन/ 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य ₹ 650

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825 301 (झारखंड)
Mo. : 09835312665
e-mail : bharatyayawar@yahoo.com

आलोचना

मोहन राकेश : शेष : अशेष

गंगाप्रसाद विमल

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक के आधुनिक लेखकों में अग्रणी मोहन राकेश 'मास्टर ऑफ ओरियंटल लैंग्वेज' थे और इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि संस्कृत मनीषा से उनका परिचय कितना घना होगा? आरंभ में वे प्रवादों के शिकार भी हुए। सौंदरानंद के प्रभाव की कानाफूसी बंद हुई कि स्त्रियों के साथ उनके संबंधों पर कथाएं बुनी जाने लगीं, परंतु उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की और वे अपने 'टाइपराइटर' के सामने बैठकर अपने लिखे की संशोधित प्रति तैयार करने में लगे रहे। उनकी डायरियों के पन्नों से पता चलता है कि वे कैसे लिखते थे और लिखे पाठ पर कितनी तरह से ध्यान देते थे। इस अर्थ में एक 'परफेक्शनिष्ट' थे–अंतिम पाठ तक पहुंचने के लिए कितनी बार मसौदों में परिवर्तन करते थे? और फिर अंतिम मसौदे पर अपनी सहमति दर्ज करते थे।

प्रतिष्ठित कहानीकार तथा 'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवीन्द्र कालिया द्वारा संपादित–'मोहन राकेश : संचयन' एक विलक्षण पुस्तक है, जिस पर गौर करने की जरूरत है, क्योंकि इस संचयन से राकेश के लेखन की अनेक-अनेक कमल-कोमल पंखुरियां खुलती हैं।

अक्सर लोग उनके आभिजात्य को लेकर भी कभी-कभी टिप्पणियां करते थे। उनके लिबास, उनके सिगार और उनकी आराम पसंद यात्राओं के बारे में बातें करते लोग थकते नहीं थे। उनका रहन-सहन तक चर्चाओं के घेरे में रहा। वे नौकरियां करते थे, परंतु छोड़ने के लिए। उनकी एक जेब में अगर किसी काम की स्वीकृति का पत्र होता था तो दूसरी जेब में त्याग-पत्र। सब कुछ नितांत, निजी, व्यक्तिगत होते हुए भी मोहन राकेश यारबाश थे। उनके मित्रों में लेखक, कलाकार, नर्तक, संगीतकार, अभिनेता, संपादक, राजनेता तो थे ही, युवा लेखकों से लेकर स्कूली बच्चों में भी यह दोस्ताना फैला हुआ था। राकेश कहीं बैठे हों तो दूर से ही इसका पता चल जाता था। खासतौर से उनके ठहाकों की आवाज दूर तक और स्मृति में देर तक गूंजती रहती थी। वे बेहद गंभीर आदमी थे, लेकिन उतने ही विनोदप्रिय। नएपन की पहचान के वे कायल थे, परंतु परंपरा के कालजयी कृतित्व के भी उतने ही दीवाने थे। हिंदी कथा को आधुनिक संसार के सामने दूसरी भाषाओं के मुकाबले प्रस्तुत करने का उनका संपादकीय लक्ष्य 'सारिका' से शुरू हुआ था, परंतु उससे पहले वे अपनी

ऐसी कहानियां प्रस्तुत कर चुके थे, जिनसे हिंदी की नई कहानी की शुरुआत हुई थी।

नफासत पसंद राकेश ने कहानियां, उपन्यास, नाटक, निबंध, यात्रा वृतांत, डायरियां तो लिखी ही हैं, उनके द्वारा किए गए अनुवाद, उनकी कुछेक टिप्पणियां सभी में हिंदी की एक नई ऊर्जा दिखाई देती है। उनके भाषागत प्रयोगों की ओर ही देखें तो सभी विधाओं में उन्होंने भिन्न भाषिक संरचनाएं दी हैं। भविष्य के अध्येता इसका अध्ययन करेंगे तो उन्हें राकेश की सृजनात्मक प्रतिभा के विलक्षण सूत्र मिलेंगे। उन्होंने कहानी में आवेगात्मक भाषा का जैसा प्रयोग किया है, वह नाटकों में तो संभव जान पड़ता है, किंतु कहानियों में अब तक आद्य रूप में था। नाटकों में गल्प की उपस्थिति को भी उन्होंने नाट्य शब्द द्वारा संभव किया। यह संयोग मात्र नहीं कि जब वे नेहरू फेलोशिप पर काम कर रहे थे तो तब नाट्य शब्द ही उनका विषय था। थोड़ा जटिल विषय जरूर था और वे अपने सृजनात्मक आलस्य से जितना कर पाए, वह विस्मित करने वाला था। इसलिए कि वह काम पूरा दिखाई नहीं दिया। हुआ या नहीं, नहीं मालूम, परंतु उनकी डायरी, पत्रों से उनकी गंभीरता का पता चलता है, साथ-ही-साथ वे किस दिशा में आगे बढ़ रहे थे, इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है। गद्य भाषा के अपने प्रयोगों में राकेश कितने सजग थे, इसे उनके प्रयोगों के विभिन्न रूपों का परिज्ञान प्राप्त करके ही जाना जा सकता है।

कथाओं में उनकी इस मौलिक प्रवृत्ति के ज्यादा संगत दृष्टांत खोजे जा सकते हैं। यह बात गौर करने की है कि उन्होंने प्रदत्त कथा शैलियों से परहेज किया। वे पुरानी कथाओं और उर्दू की कथा शैली से बखूबी परिचित थे और जानबूझकर वे उस किस्सागो प्रवृत्ति से बचे, जिसका लक्ष्य भाषायी प्रयोगों के चमत्कार से मूल आशय तक पहुंचने का होता था। मोहन राकेश संस्कृत कथाकाव्यों के सोद्देश्य वृत्तों से गहराई से परिचित थे। गल्पकारिता के उस व्यामोह से छुटकारा इसलिए जरूरी था कि आप एक नई दुनिया में रह रहे हैं। उसे टोहने की क्षमता पूर्व प्रयुक्त भाषा प्रयोगों में नहीं थी। आप पाएंगे कि मोहन राकेश एक नई भाषा खोजने के सृजनात्मक श्रम में सक्रिय रहे। रहे इसलिए कि वे अपनी पहली कथा की भाषा से हर नई कथा में बदलाव लाते रहे। इस कथन का परीक्षण और प्रमाणों से इसका सत्यापन हम आगे चलकर करेंगे। इस विषय का आरंभ में ही वर्णन केवल इसलिए करना अनिवार्य लग रहा है कि मोहन राकेश के कथा-विन्यास का यह एक महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है। हिंदी में ऐसे प्रयोग अनेक लोगों ने किए हैं उल्लेखनीय रचनाकार फणीश्वरनाथ रेणु और अल्पज्ञात लेखक दयानंद अनंत हैं। उल्लेखनीय इसलिए कि राकेश की भांति इन लोगों का ध्यान बराबर इस बात की ओर रहा है कि विवरणों का उपयोग सार्थक हो अन्यथा विवरण यथास्थिति द्योतक रह जाते हैं। असल में राकेश की कथाओं में एक साथ दो चीजें साफ-साफ दिखाई देती हैं, पहली चीज संवेदनात्मक सघनता और दूसरी आकस्मिकता के कारण उत्पन्न तात्कालिकता का अनुमान देने वाली नव्यता। यह नव्यता ही उनकी कहानियों को समकालीनों से पृथक भी करती है। शेष कथाकार वास्तव की प्रतीति के लिए सामाजिक संबंधों के जातिसूचक, वर्गद्योतक, कुल-गोत्र सूचक विवरणों को समानांतर ऐतिहासिक अंतर्कथाओं की तरह कथा के कलेवर को भाषिक जंजाल से भरने की कोशिशों में निमग्न थे। हिंदी कहानी की ऐसी परंपरा आरंभ से ही रही है और उसी का अनुसरण कथाकार करते रहे हैं। मोहन राकेश ने विवरणों की कथाभूमि को बदल दिया था। वे कथा के संवेदन के मूलतत्व पर केंद्रित उन्हीं विवरणों का रेखांकन करते थे, जो कथा के त्रासदबोध की त्वरा का अनुमान दे सकें, उनके लिए चरित्रों की प्रसंग कथाएं महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। खासकर जो बातें मात्र संकेतों में अभिव्यक्त हो जाएं, उनके लिए अतिरिक्त रूप से विवरण जुटाना कथा के असली मकसद से जुड़ाव नहीं है। इसलिए राकेश अतिरिक्त किस्म के विवरणों से बचते रहे और उन्होंने अपनी कथाओं में भरसक ऐसी चीजों को प्रवेश नहीं करने दिया।

मोहन राकेश के गल्प की अनेक विशेषताएं हैं तथापि रेखांकित करने वाला तथ्य यह है कि मनुष्य जीवन की भौतिकी सच्चाइयों को प्रेमचंदीय शैली में या कहें किस्सागो विधि में प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य नहीं था और यहीं से हम दृश्य यथार्थ और एक अदृश्य यथार्थ का भेद कर यह बताना चाह रहे हैं कि पूर्वकाल में सामाजिक संबंधों की प्रतीति के लिए समाज की वर्गीय स्थिति को ही मुख्य मानकार स्वीकार कर लिया गया था कि शेष सामाजिक संबंधों पर यही मत लागू रहेगा।

'सुहागिनें' का कथा वृत्त छोटा-सा है। एक विद्यालय की मुखिया के यहां काम करने वाली स्त्री है। दोनों की वर्गीय स्थिति भिन्न है। एक मध्यवित्त परिवार की है। दूसरी एकदम विपन्न परिवार की। एक का पति शहर से बाहर दूसरे शहर में रहता है। दूसरी का पति अपनी दूसरी पत्नी के साथ दूसरे शहर में रहता है। दोनों वर्तमान में अपनी-अपनी समस्याओं से जूझ रही हैं। एक विलक्षण कथाकार के नाते किसी भी स्तर पर राकेश ने दोनों की तुलना उस ढंग से नहीं की, जैसा कि उनके समय के दूसरे प्रगतिशील कथाकार करते रहे हैं। उन्होंने स्त्री और पुरुष, दोनों की स्थितियों की भी तुलना नहीं प्रस्तुत की, अपितु यथार्थ की प्रतिस्थापना करते हुए स्थितियों का चित्रण किया। इसी चित्रण के कौशल में हम पाते हैं कि एक समर्थ रचनाकार बहुत ही अदृश्य ढंग से उन नीतिगत आधारों का आविष्कार कर डालता है, जिन पर समाजों की बहुत पैनी नजर रहती है। कालांतर में वे ही समाज अपनी रूढ़िगत केंचुल से बाहर आकर जब अपने अतीत का सर्वेक्षण करते हैं, तब स्पष्ट होता है कि हमारे आज के प्रगतिशील लोग जिस ढोल को पीटते रहे, वह वास्तविक नहीं था, बल्कि प्रभाववादी था।

मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' संभवतः एक ऐसी विरल कहानी है जिसका जोड़ अन्य भाषाओं में भी नहीं है। मोहन राकेश कथाओं की दुनिया से बाहर के आदमी नहीं थे। आशय यह कि उन्होंने नाटकों में जो काम किया, वह इतिहास के वृत को किस्से से मढ़ना था। चाहे 'लहरों का राजहंस हो', 'आषाढ़ का एक दिन' या 'आधे अधूरे', ये अपनी कथापन की एक अलग ही पहचान रखने वाले नाटक हैं। शायद वे पहले लेखक हैं, जिन्होंने दोनों विधाओं में अपनी अलग पहचान और वह

भी शीर्षस्थ पहचान बनाए रखी है। पहले भी संकेत किया जा चुका है कि उनकी कथाओं में वे (कहानियां और उपन्यासों दोनों में) संवादों का सादृश्यवाची रूप सृजित करते हैं अर्थात् कहानी जैसी विधा में नाट्य भंगिमाएं संवादों के स्तर पर एक नया नाटकीय आस्वाद बिखेरती हैं। कला का यह विचित्र-सा पक्ष है, जिसमें एक विधा दूसरी विधा में प्रवेश कर दूसरी विधा के वैशिष्ट्य को ज्यादा उभारकर सामने ले आती है। खासकर नाटकों का ही उदाहरण लें तो हम पाएंगे कि सामान्य शब्द, जो अपने एकार्थी स्वरूप से कथा में उपस्थित रहता है, नाट्य शब्द बनते ही वह अर्थ की दूसरी छवियां प्रस्तुत करने लगता है। असल में नाटक में शब्द रूपंकर (प्रदर्शनकामी) विधान से नए से नए अर्थ प्रक्षेपित करता है। हम उदाहरणों से इस तथ्य का सप्रमाणिक आधार स्पष्ट करेंगे, किंतु इसके वैचारिक और सैद्धांतिक आधार को जानना भी जरूरी है। इतना तो तय है कि शब्द अर्थ की एक ही धार को अपने प्रयोग में संरक्षित करता है, किंतु जैसे ही वह रंग कर्म का हिस्सा बन जाता है अर्थात् वह अपने प्रदर्शन की विधि से यदि शब्द को आलाप में उच्चरित करता है तो आलाप का बहुमुखी चेहरा उभरने लगता है। उसके अर्थकोण विकसित हो जाते हैं। मोहन राकेश के नाटकों के रंगकर्म के विषय में रंगमंच के विशेषज्ञों ने प्रस्तुति संबंधी वैविध्य पर बहुत कुछ कहा है। हम तो संचयन में प्रकाशित उनके भिन्न-भिन्न नाटकों पर जब भी नजर डालते हैं तो उनके पठ्य नाटक भी उनके रंग निर्देशों के सहारे हमें उनके अभिजीत रूपों के गुण का सादृश्य देने लगते हैं। तब विश्व प्रसिद्ध नाट्य विवेचक का कथन याद आता है कि जो नाटक अपने पाठ में बांधने की क्षमता रखता है, वह अभिमंचित स्थिति में पाठकों को परिपूर्णता का बोध कराने में सफल रहता है।

सामान्य-सा प्रश्न है कि नाटक के प्रस्तुतिकरण के लिए जो नाट्य विधान अनिवार्य है, क्या उसकी रूपरेखा नाटककार ही देता है? ज्यादातर नाट्य निर्देश सूत्रों के रूप में मूल पांडुलिपि में निर्दिष्ट रहते हैं। उन्हें जानने-पकड़ने की क्षमता रंग निर्देशक के जिम्मे रहती है। इसीलिए राकेश को कहना पड़ा, ''और लोगों की बात मैं नहीं जानता, केवल अपने लिए कह सकता हूं कि आज की रंगमंचीय गतिविधि में गहरी, दिलचस्पी रखते हुए भी मैं अब तक अपने को उसका एक हिस्सा महसूस नहीं करता। कारण अपने मन की कोई बाधा नहीं, अपने से बाहर की परिस्थितियां हैं। एक तो अपने यहां, विशेष रूप से हिंदी में, उस तरह का संगठित रंगमंच है ही नहीं, जिसमें नाटककार के एक निश्चित अवयव होने की कल्पना की जा सके, दूसरे उस तरह की कल्पना के लिए मानसिक पृष्ठभूमि भी अब तक बहुत कम तैयार हो पायी है।...'' मोहन राकेश ने नाटककार की अहम भूमिका महसूस करते हुए हिंदी की दयनीय स्थिति का जो चित्र खींचा, वह दुर्भाग्य से आज भी जस-का-तस है। उनकी कामना थी कि ''हमारे यहां या हमारी स्थिति के हर देश में रंगमंच का विकास-क्रम वही होगा, जो अन्य विकसित देशों में रहा है'', किंतु इस कामना के पीछे जो दर्द छिपा है, उसे भी व्यक्त करने का साहस राकेश में था। उन्होंने तथाकथित प्रयोगधर्मी नाटककारों को भी आड़े हाथों लिया। भारतीय रंग शिल्प के बहुत से पक्षों पर राकेश के विचार अन्यत्र प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे विचार मौलिक हैं–ठीक वैसे जैसे वे सृजन में मौलिक हैं। इस संचयन में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातचीत और्बुज़ौफ और मोहन राकेश के बीच की बातचीत है, जिसे मैं हर सृजेता और हर रंगकर्मी के लिए लाजिमी मानता हूं, क्योंकि यहीं राकेश ने नाट्यशब्द की अपनी मौलिक अवधारणा को स्पष्ट किया।

मोहन राकेश की डायरी उनके निबंधों और दूसरे गद्य प्रयोगों से सौ कदम आगे की चीज है। उसमें किसी तरह का अनावश्यक विस्तार नहीं है, बल्कि एक विचित्र-सा संक्षिप्तीकरण है और इसी संक्षिप्तीकरण के बीच घटित वक्त, इतिहास के एक अजीब टुकड़े की तरह टंगा है। डायरी में राकेश ने दिल्ली, लेखक, टी-हाउस और मुक्तिबोध की मृत्यु का जो अंकन किया है, उसे अविचारणीय ही कहना पड़ेगा। संचयन में कालिया ने उन अंशों का संपादन नहीं किया, जो उसकी पोल खोलते हैं। इसे कालिया के बड़प्पन की जगह राकेश की साफगोई कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।

अब सवाल फिर वही है कि आखिर ये राकेश हैं क्या–अरे भाई नाटककार हैं कि उपन्यासकार हैं, कहानीकार हैं या डायरीकार। और मुझे लगता है कि मान लेना चाहिए कि राकेश एक विचित्र प्रकार के घुमक्कड़ हैं और इसलिए वे हिंदी के बेजोड़ यात्रा वृतांतकार हैं। 'आखिरह चट्टान तक' मोहन राकेश का एक ऐसा यात्रा वृतांत है, जिसे विरल कहना ही उसके साथ न्याय करना होगा।

वांडर लास्ट प्रकरण के आरंभ की पंक्तियां–''खुला समुद्र-तट। दूर-दूर तक फैली रेत। रेत में से उभरी बड़ी-बड़ी स्याह चट्टानें। पीछे की तरफ एक टूटी-फूटी सराय। खामोश रात और एकटक उस विस्तार को ताकती एक लालटेन की मटियाली रोशनी...। सब कुछ खामोश है। लहरों की आवाज़ के सिवा कोई आवाज़ नहीं सुनाई देती। मैं सराय के अहाते में बैठा समुद्र के क्षितिज को देख रहा हूं...''–वास्तव में राकेश के शब्दों से चित्र बनाने की कला के सामने हमें ला खड़ा करती है। हिंदी में ऊबाऊ किस्म के यात्रा वृतांतों की तुलना में राकेश की यह पहल इसलिए भी रेखांकित की जानी चाहिए कि वे यात्रा में गल्प, व्यंग्य, आक्रामकता और नए परिवेश के भीतरी अर्थ तक की यात्रा करा डालते हैं। यह विलक्षण क्षमता निर्मल वर्मा और अज्ञेय की यात्राओं में कभी-कभी अपना प्रतिबिंब दिखाती है, किंतु एक कलारूप की दृष्टि से राकेश की इस इकलौती पुस्तक 'आखिरी चट्टान तक' की बीसवीं शताब्दी की बेहतर पुस्तकों की अगली पंक्ति में रखना होगा। एक प्रकरण और, उस पर गौर करें, ''दिसंबर बाबत की पच्चीस तारीख। थर्ड क्लास के डिब्बे में ऊपर की सीट बिस्तर बिछाने को मिल जाए, वह बड़ी बात होती है। मुझे ऊपर की सीट मिल गई थी। सोच रहा था कि अब बंबई तक की यात्रा में कोई असुविधा नहीं होगी। रात को ठीक से सो सकूंगा, मगर रात आई, तो मैं वहां सोने की जगह भोपाल ताल की एक नाव में लेटा बूढ़े मल्लाह अब्दुल जब्बार से ग़ज़लें सुन रहा था।

भोपाल स्टेशन पर मेरा एक मित्र अविनाश, जो वहां से निकलने वाले एक

हिंदी दैनिक का संपादन करता था, मुझसे मिलने आया था, मगर बात करने की जगह उसने मेरा बिस्तर लपेटकर खिड़की से बाहर फेंक दिया और खुद मेरा सूटकेस लिए नीचे उतर गया।...रात को ग्यारह के बाद हम लोग घूमने निकले। घूमते हुए भोपाल के ताल के पास पहुंचे, तो मन हो आया कि नाव लेकर कुछ देर झील की सैर की जाए. ..'' गद्य में चित्रात्मकता राकेश की शब्द चयन की वृत्ति का विशेष लक्षण है, इसी का विस्तार हम उनके नाट्य चिंतन में पाते हैं, किंतु मात्र चिंतन के स्तर पर ही मोहन राकेश शब्द की अर्थमय गरिमा स्थापित नहीं करते, अपितु वे उससे भी आगे जाते हैं। ऊपर जिस यात्रा प्रकरण का अंश हमने दृष्टांत के रूप में लिया है, उसी की विवेचना करें तो उसमें एक निहायत व्यक्तिगत प्रसंग एक साथ कई उद्भावनाएं कर डालता है। वह विनोदप्रियता भी व्यक्त करता है तथा जीवन की उस शैली की भी छवि उकेरता है, जिसके अनुगामी व्यक्तिगत रूप से मोहन राकेश रहे हैं।

मोहन राकेश के कृतित्व से उभरने वाली छवि एक ऐसे रचनाकार की छवि है, जिसने अपनी शर्तों पर लेखक बने रहने की बुनियाद डाली है। जिसने विविध प्रकार के लेखन में यह भी साबित किया कि अपनी प्रतिबद्धता मनुष्य मात्र के प्रति है, किसी दल या राजनैतिक विचार या नायक स्तुति गायन जैसी वृत्ति के प्रति नहीं है। राकेश बजाप्ते खुद ठोस प्रजातंत्रवादी थे। वे अपनी सीमाओं के प्रति सजग थे और दूसरों की अराजकता में हस्तक्षेप यदि जरूरी होता था तो बेधड़क करते थे, पर ऐसे अवसर कम ही आए, ज्यादा अवसर आए और दिखाई दिए कि वे नए रचनाकारों के प्रति, नई रचनाशीलता के प्रति, नए प्रयोगों के प्रति अतिरिक्त रूप से सराहना के भावों से भरे थे।

मोहन राकेश : संचयन/सं. रवीन्द्र कालिया, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया/लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 600

112, साउथ पार्क, कालकाजी, नई दिल्ली-110 019, मो. 9312505250

आलोचना

तराशे मजमून की खुशबू

कांतिकुमार जैन

धनंजय वर्मा हिंदी की नई कहानी एवं उससे प्रसूत विभिन्न आंदोलनों के प्रमुख व्याख्याकार एवं आलोचक के रूप में चर्चित रहे हैं। डॉ. नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी के साथ मिलकर उन्होंने नई कहानी आंदोलन को समझने-समझाने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। उन्होंने नई कहानी की व्याख्या के लिए और इतिहास में उसे उसका समुचित स्थान दिलाने के लिए कई नई अवधारणाएं विकसित कीं और कथालोचन की नई शब्दावली का भी आविष्कार किया। यह धनंजय वर्मा ही थे, जिन्होंने नई कहानी के सौंदर्य शास्त्र के स्थान पर उसके रचनाशास्त्र पर बल दिया। नई कहानी आंदोलन के इतिहास की वस्तु हो जाने पर जिन आलोचकों को आज भी गंभीरतापूर्वक याद किया जाता है, उनमें नामवर सिंह और धनंजय वर्मा ही महत्त्वपूर्ण हैं। अब भले धनंजय वर्मा नामवर सिंह को नई कहानी को स्थापित करने वालों में ज्यादा भाव देने के पक्ष में न हों, किंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि नामवर सिंह न होते तो नई कहानी को वह प्रतिष्ठा न मिली होती, जो उसे आज प्राप्त है।

धनंजय वर्मा पर प्रस्तुत एकल संकलन के संपादक विश्वरंजन ने स्वीकार किया है कि ''ईमानदारी से कहें तो डॉ. धनंजय वर्मा ऐसे आलोचक के रूप में उभरे, जिससे हिंदी कहानियों की पड़ताल और उसकी दिशाबद्धता के सार्थक आयाम खुलते चले गए। यह हिंदी साहित्य के लिए धनंजयजी का सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान माना जाना चाहिए।'' धनंजय वर्मा ने 1960 से लेकर अब तक विगत पचास वर्षों में बहुत लिखा है, पर उनके समस्त लेखन तक पहुंचना न पाठकों के लिए संभव रहा है, न ही समीक्षकों के लिए। उनका कोई समग्र या रचनावली भी दुर्भाग्य से अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। ऐसे में अपने लिखे और स्वयं पर लिखे-लिखाए को एकजुट प्रस्तुत करने का विचार धनंजय वर्मा के मन में आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके इस विचार को प्रमोद वर्मा स्मृति संस्थान, रायपुर के पुलिस महानिदेशक, कवि, कलाकार और विचारक विश्वरंजन ने 'शिलाओं पर तराशे मज़मून' जैसी पुस्तक का रूप दिया है। सभी जानते हैं कि ऐसी पुस्तकों के प्रणयन के लिए प्रदीर्घ उद्यमिता और लेखक के अंतरंग-बहिरंग में गहरी पैठ की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्य से हिंदी के वर्तमान माहौल में न ऐसी उद्यमिता संभव है, न ही ऐसी पैठ। इन दुष्प्रवृत्तियों के चलते धनंजय के कृतित्व का मूल्यांकन ठीक-ठाक ढंग से नहीं हो पाया। ''पर ऐसा हुआ होता तो धनंजय वर्मा हिंदी के एक मान्य विचारक के रूप में शिद्दत से शुमार किए जाते।'' इस बात का मलाल जितना पुस्तक के

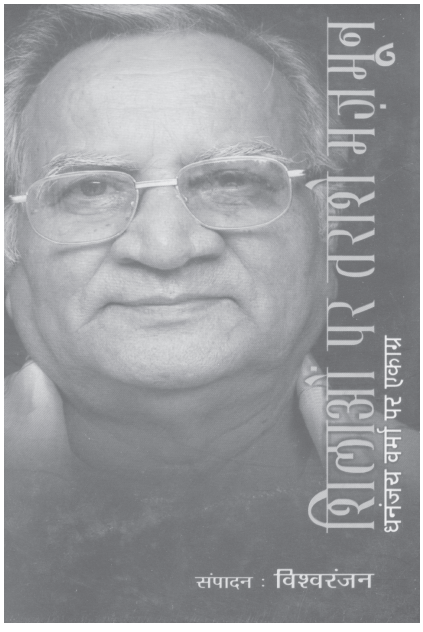

संपादक को है, इतना ही हिंदी के प्रबुद्ध पाठकों को भी। धनंजयजी को तो है ही। धनंजय ने एक साक्षात्कार में स्वीकार किया है कि इतना कुछ लिखने के बाद भी वे उपेक्षित और तिरस्कृत हैं। ऐसे में विश्वरंजनजी ने धनंजय पर एक ओमनी बुक का संपादन कर और उसे धनंजय के मित्र और संबंधी प्रमोद वर्मा की स्मृति में स्थापित संस्थान द्वारा प्रकाशित कर धनंजयजी का दुःख तो दूर किया ही है, हिंदी कहानी आलोचना के इतिहास की एक बड़ी कमी भी दूर की है। इस पुस्तक में एक अच्छी बात यह है कि सारी पुस्तक धनंजयजी के मार्गदर्शन में तैयार की गई है। अब इसमें किसी प्रकार के अन्याय अथवा असंतुलन की शिकायत नहीं की जा सकती, पर 420 पृष्ठों की इस पुस्तक में उस मानसिकता का भी जायजा लिया जाना उपयोगी होता, जो धनंजयजी जैसे कालजयी और कृती आलोचक की उपेक्षा और तिरस्कार को संभव बनाती है।

प्रस्तुत एकल संकलन का शीर्षक ('शिलाओं पर तराशे मज़मून') प्रसिद्ध सप्तकीय कवि और धनंजय के मित्र हरिनारायण व्यास की एक भावुकतापूर्ण कविता से लिया गया है। इस कविता में धनंजय के विरोधियों को चमगादड़ का हुजूम का विरुद दिया गया है। ऐसा लिखना मैत्रीधर्म का निर्वाह तो है, पर असहमति के प्रति उदारता और सहनशीलता जैसे सभ्य समाज के मूल्यों का अनादर ही कहा जाएगा। बौद्धिकता और रचनाशीलता के क्षेत्र में हमें थोड़ा सहिष्णु होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक पांच खंडों में विभक्त है, जिन्हें क्रमशः व्यक्तित्व, कृतित्व, साक्षात्कार, पत्रावली और मूल्यांकन नाम दिया गया है। इन विभिन्न खंडों पर अलग-अलग विचार करना वांछनीय है।

व्यक्तित्व खंड धनंजय के बारे में आधी-अधूरी सूचनाएं देता है। धनंजय को बचपन में घनघोर अभावों से जूझते हुए जिंदगी गुजारनी पड़ी और अपनी शिक्षा के लिए कभी इसका, कभी उसका मुखापेक्षी होना पड़ा। उसने अपमान और तिरस्कार के दंश भी कम नहीं झेले, किंतु विलक्षण मेधावी होने के कारण वे निरंतर आगे बढ़ते और ऊंचे चढ़ते गए। समय ने उनकी निरंतर उपेक्षा और विपन्नता से उद्‌भूत असुरक्षा ग्रंथि को परावर्तित कर एक अहंकार ग्रंथि में बदल दिया। उनके साथ कठिनाई यह है कि वे कभी भी किसी भी क्षेत्र में स्वयं को किसी से दोयम मानने को तैयार नहीं होते। जो उनसे असहमत होता है या उनकी चतुराई भांप लेता है, उसे वे अपना विरोधी ही नहीं, शत्रु मान लेते हैं।

अपने से बराबरी वालों या कमतर लोगों को तो वे कुतके पर रखते हैं। इसी पुस्तक में संकलित अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने यह गर्वोक्ति की है कि ''आचार्य शुक्ल के बाद इस दिशा में (आलोचना के विकास में) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का रहा है—उसके बाद रेखांकित करने योग्य योगदान धनंजय वर्मा का है।'' उन्होंने यह भी कहा है कि ''यह आत्मश्लाघा नहीं, आत्मविश्वास और स्वत्वाग्रह है।'' धनंजय अपनी महत्ता की स्वीकृति के अभाव का दोष हिंदी में साहित्य की टुच्ची राजनीति को देते हैं। उन्हें लगता है कि इसी टुच्ची राजनीति के चलते डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह जैसे 'आंदोलक' बने बैठे हैं और अशोक वाजपेयी को तो वे किसी गिनती में ही नहीं लेते—उन्हें वे (धनंजय) 'एक सफल आलोचक' और 'एक कुशल प्रायोजक' से हटकर कुछ नहीं मानते। वे स्वयं को अनन्य, अपर्याय एवं अभूतपूर्व मानते हैं, ''हिंदी के समकालीन परिदृश्य में ऐसा एक भी आलोचक नहीं है, जिससे मैं प्रभावित हो सकूं। आलोचना के क्षेत्र में मेरा सहयोगी कोई नहीं है।'' इसके बाद केवल 'जय हो' ही कहा जा सकता है।

पुस्तक का सबसे पठनीय खंड है आलोचना। यहां धनंजय धनंजय हैं, अपनी समस्त आक्रामकता, तार्किकता, वाग्मिता और अध्ययन और अहंकार के साथ। इस खंड में धनंजय के विचारक रूप का भी वैभव स्पष्ट दिखाई देता है। 'दिक्काल की अवधारणा' जैसे दार्शनिक विषय पर भी वे बड़ी सूक्ष्मता से विचार कर सकते हैं। इसी खंड में 'हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन' जैसा विवादास्पद अंश भी है, जिसमें वे हिंदी के सम्मानों, अलंकरणों और पुरस्कारों पर एक भी तट के आदमी की तरह स्टिंग आपरेशन का प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं। इस आपरेशन में प्रसिद्ध कवि, आलोचक और कभी उनके अधिकारी रहे अशोक वाजपेयी पर निशाना साधने का कोई मौका वे नहीं छोड़ते। अच्छा होता यदि इसमें वे स्वयं के भवभूति अलंकरण हथियाने की जोड़-तोड़ का भी हवाला देते, पर धनंजयजी की आदत है कि वे जब भी दूसरों के घर में सेंध मारते हैं, तब चड्डी गिरोह के सदस्यों की तरह बदन पर खूब तेल लगाकर ही ताकि दूसरा उनको पकड़ना चाहे तो उसके हाथ फिसल-फिसल जाएं। मुझे इस खंड का सबसे तेजस्वी (और धनंजय के समस्त लेखन का भी) लेख लगता है 'मेरे ही शिविर में मेरी हत्या हो सकती है'। यह मुक्तिबोध पर लिखी गई आलोचनाओं की शव परीक्षा है। इसमें धनंजय ने न नामवर सिंह को बख्शा है, न डॉ. रामविलास शर्मा को। मौका निकालकर वे मुक्तिबोध के अन्य अध्येताओं को भी अपनी जद में ले लेते हैं और सामने वाले का झटका करने में अपने कौशल का परिचय देते हैं। यहां भी वे अपनी पीठ ठोंकने का मौका नहीं छोड़ते, ''परितृप्तकारी प्रशंसा और छिद्रान्वेषी आलोचना के अतिवादों से बचकर हमने मुक्तिबोध के काव्य का एक सदावेशी पुनर्मूल्यांकन किया है।'' 'हमने' अर्थात् मैंने अर्थात् धनंजय वर्मा ने।

धनंजय ने उर्दू के कुछ कवियों पर भी लंबे आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। उनमें से एक 'हम नवाये मीर औ ग़ालिब' यहां संकलित है। वस्तुतः धनंजय हिंदी के उन अध्येताओं में हैं, जिन्हें उर्दू कविता से गहरा लगाव ही नहीं, उसकी गहरी समझ भी है। जिन लोगों ने धनंजय के मीर, ग़ालिब आदि पर लिखे लंबे लेख पढ़े हैं, वे धनंजय के प्रति कृतज्ञ होंगे। हिंदी के पाठकों को उर्दू कवियों का रसास्वादन करने के लिए अभी तक रामनाथ 'सुमन', रामानुजलाल श्रीवास्तव, 'उग्र' जैसे भाष्यकारों का ही सहारा था, अब उनमें धनंजय वर्मा का भी नाम जोड़ लिया जाना चाहिए। हमें उर्दू कवियों पर उनके निबंधों के संकलन की प्रतीक्षा रहेगी।

पुस्तक में महावीर अग्रवाल, लक्ष्मी नारायण 'पयोधि' और सुधांश मिश्र द्वारा लिए गए तीन साक्षात्कार भी हैं। इनमें धनंजय ने एक बड़े पते की बात कही है, ''साक्षात्कार में लेखक की असलियत खुल जाती है।'' सच्ची बात। इन साक्षात्कारों में जहां भी मौका मिला है, धनंजय ने नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, अशोक वाजपेयी की भूरि-भूरि निंदा की है, उन्हें बिलकुल हेय, तुच्छ और अपदार्थ मानते

हुए। उन्हें लगता है कि उनकी अपनी महानता में यही सबसे बड़े बाधक हैं। यदि ये न होते तो हिंदी आलोचना के विक्ट्री स्टैंड पर पहला नंबर महाचार्य धनंजय वर्मा का होता। उन्हें लगता है कि परसाई को साहित्यकार के रूप में स्थापित करने का श्रेय उन्हें ही है अन्यथा परसाई पत्रकार के खाते में ही पड़े रहते। राजेन्द्र यादव पर उन्होंने लिखा होता तो राजेन्द्र प्रेमचंद से बड़े कहानीकार माने जाते। शानी और दुष्यंत तभी तक महान बने रहे, जब तक बाबू धनंजय वर्मा उन्हें ऐसा मानते रहे। उन्होंने अपनी बैसाखी हटाई कि दोनों जमीन पर आ गए। इन्हीं साक्षात्कारों से ही सूचना मिलती है कि निराला, शमशेर, मुक्तिबोध पर सबसे पहले धनंजय ने ही लिखा। यह सच है कि धनंजय स्वयं को बहुत से लेखकों का पी.सी. (पर्सनल क्रिटिक) मानते हैं। पर्सनल क्रिटिक होने के फायदों से धनंजय परिचित हैं।

इस पुस्तक का एक अवदान यह भी है कि धनंजय के रचनात्मक पक्ष का भी पाठकों को पता चलता है। अभी तक यह बहुत कम लोगों को ज्ञात था कि धनंजय कवि, कथाकार और रम्य रचनाकार भी हैं। यह दूसरी बात है कि उनकी कहानियों पर 'कनट्राइव्ड' (contrived) होने का दोष मढ़ा गया है और उनकी कविताओं को 'सुररियलिस्टिक' माना गया है। यह अच्छा ही हुआ कि धनंजय ने कविता और कहानियों को अलविदा कह दिया और आलोचना का पल्ला पकड़ा। यहां उन्हें नंददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक का संरक्षण मिला और 'आलोचना' जैसी पत्रिका के पृष्ठ। आलोचक के रूप में वे हिंदी के शीर्ष रचनाकारों के संपर्क में आए। धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कृष्ण बलदेव वैद, अमृतराय जैसे प्रतिष्ठित रचनाकरों के संपर्क में आना और उनकी आत्मीयता अर्जित करना धनंजय के लिए मूल्यवान सिद्ध हुआ। इनमें से अधिकांश ने उन्हें बताया कि उन्हें पश्चिम के किन आलोचकों, समाजशास्त्रियों और मनोविज्ञानवेत्ताओं को पढ़ना चाहिए। यह अध्ययन धनंजय के आलोचक के निर्माण में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

पत्रावली खंड में 22 लेखकों के पत्र संकलित हैं। इनमें 21 व्यक्ति तो वे हैं, जिनके संपर्क में धनंजय अपने जीवन के विभिन्न पड़ावों में आए हैं। एक पत्र वह भी है, जो धनंजय को नहीं लिखा गया है, पर धनंजय द्वारा प्रमोद वर्मा के बारे में अक्षयकुमार जैन को लिखा गया है। इसमें वे प्रमोद वर्मा के बारे में अक्षय बाबू को तो लिखते ही हैं, ज्यादा चर्चा इस बात की करते हैं कि सागर विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को लात मारकर उन्होंने किस निस्पृहता और त्यागवृत्ति का परिचय दिया है। अक्षय बाबू भोपाल में रहते हैं, सागर विश्वविद्यालय के कुलपति पद का परित्याग धनंजय ने किन स्थितियों में किया, इसका उनको कुछ पता नहीं है। कुछ पता भी है तो उतना ही, जितना धनंजय ने उन्हें बताया है। यह पत्र अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने जैसा ही है। बचपन में धनंजय को अपने नाना से हलक़ से बोलने की अनन्य सिद्धि प्राप्त हुई थी, धनंजय वर्मा उसकी अनन्यता अब भी अनुभव करते हैं। कभी-कभी व्यक्ति को चुप रहना भी आना चाहिए, खासकर उन प्रसंगों के बारे में, जो उसके व्यक्तित्व के गौरव न हों।

मूल्यांकन खंड में धनंजय के लेखन के विभिन्न पक्षों पर 15 लेख संकलित हैं। इन निबंधों से धनंजय के लेखन के विकास, उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों और उसकी दुर्बलताओं का पता चलता है।

इस पुस्तक में दो प्रसंग ऐसे भी हैं, जिनसे धनंजय पर मिथ्या भाषण और तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने का आरोप लगाया जा सकता है। पहला तो है उनके सागर विश्वविद्यालय में टीचर फैलो के रूप में आने का प्रसंग। इसे धनंजय अपने जीवन की सबसे बड़ी गलती मानते हैं। वे टीचर फैलोशिप के सारे लाभ तो उठाना चाहते थे, पर इसके नियमों में से किसी का पालन करने को तैयार नहीं थे। हिंदी विभागाध्यक्ष एवं छात्रावास प्रतिपालक के रूप में मैं जानता हूं कि सामान्य छात्र का हक़ मारकर 500 रुपये का अपना आवास भत्ता बचाने के कारण धनंजय जैसों को क्या असुविधाएं झेलनी पड़ी थीं, पर चतुराईपूर्वक या तो आप रुपये बचा लीजिए या अपना मान! अपने गाइड और शास्ता डॉ. प्रेमशंकर को 'तोताचश्म' कहना धनंजय को शोभा नहीं देता। फिर डॉ. शंकर धनंजय के मित्र कभी नहीं रहे। इसी प्रकार मध्यप्रदेश के तत्कालीन संस्कृति सचिव अशोक वाजपेयी द्वारा विशेष कर्तव्यस्थ अधिकारी के रूप में नियुक्त कर उन्हें (धनंजय को) भोपाल में ही बने रहने की सुविधा देने के लिए धनंजय को उनका उपकार मानना चाहिए, न कि उन्हें गरियाना, किंतु कृतज्ञता धनंजय का गुण नहीं है।

यह नहीं कि धनंजय अपने व्यक्तित्व और लेखन (विचारों की भी) संधियों की वास्तविकता को जानते न हों, किंतु अपने दूषण को भूषण में परिवर्तित करने का उनमें अद्‌भुत कौशल है। इस कौशल में उनका भाषाधिकार, वाग्मिता और अध्ययनशीलता तो काम आती ही है, उनका अहंकार भी बराबर उनके साथ चलता है। अहंकार की बैसाखियों के सहारे कभी वे स्वयं को प्रदेश के सबसे बड़े विश्वविद्यालय की वायस चांसलरी को लात मारने वाला घोषित करते हैं तो कभी स्वयं को रामचंद्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी-जैसा अनन्य और युगप्रवर्तक आलोचक मनवाना चाहते हैं। कोई उनको नामवर सिंह द्वितीय या भोपाल का नामवर कह दे तो वे बुरा मान जाते हैं। साहित्य में उनको अपने सबसे बड़े प्रतिस्पर्धी नामवर और अशोक लगते हैं। दूसरे यदि उनका यह दावा स्वीकार नहीं करते तो वे हिन्दी जगत् से मिलने वाली उपेक्षा और तिरस्कार से दुखी रहे आते हैं। यदि उन्होंने अपनी स्थिति की सच्चाई स्वीकार कर ली होती और अहंकार की बैसाखियों का सहारा लेना छोड़ दिया होता तो वे नई कहानी के विराध रचनाशास्त्री के रूप में बराबर (और ससम्मान) याद किए जाते।

इस समीक्षा का अंत करते-करते मुझे धनंजय वर्मा का एक करोड़ का यह कथन हाथ लगा, वह भी इसी पुस्तक से, उसका उल्लेख करना धनंजय के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में बहुत उपयोगी होगा। धनंजय लिखते हैं, ''एक आत्मज्ञानी थे, उन्हें इलहाम हुआ कि इस संपूर्ण विश्व में एक मात्र सत्य 'मैं' हूं, जो कुछ है, सो सब मेरे सापेक्ष्य है—मैं निरपेक्ष सत्य हूं—इस जगत् का मुझसे अलग कोई अस्तित्व नहीं है।''

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि ये आत्मज्ञानी स्वयं धनंजय वर्मा हैं?

शिलाओं पर तराशे मज़मून : धनंजय वर्मा पर एकाग्र/संपादन : विश्वरंजन / शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 / मूल्य : ₹ 600

5, विद्यापुरम्, मकरोनिया कैंप, सागर-470004 (म.प्र.), दूरभाष : 07582-262354

भारतीय साहित्य की पहचान : सिसृक्षा का समतोल बिंदु

रामशंकर द्विवेदी

डॉ. सियाराम तिवारी के विवेकपूर्ण संपादन में 'भारतीय साहित्य की पहचान' ग्रंथ के वृहद् और दीर्घ परिसर में संविधान स्वीकृत 22 भारतीय भाषाओं के केंद्र में विद्यमान एकसूत्रता की पहचान तत्तद भाषाओं के अधिकारी विद्वानों द्वारा रचित आलेखों के आधार पर की गई है। सारे आलेखों की प्रकृति शोधात्मक है।

भारतीय भाषाएं अपनी लिपि और भूगोलगत दूरी के कारण भिन्न-भिन्न और अनजानी भले लगती हों, किंतु उनकी धड़कन एक ही राग से स्पंदित है। जैसे विशाल वटवृक्ष पर आसीन भोर के पाखियों का गान एक समवेत सिम्फनी में गुंथकर एक ही राग की सृष्टि करता है। अपने उद्देश्य के प्रतिपादन में संपादक ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है, ''लिपिगत भिन्नता के साथ-साथ सबके क्षेत्र में स्थानगत दूरी भी विद्यमान है। संयोजन के अभाव के कारण ही प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब हिंदी-साहित्य, बंगला-साहित्य, तमिल-साहित्य आदि हैं, इन सबका कोई समग्र रूप नहीं है अर्थात् ये सब मिलकर भारतीय साहित्य का एक विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते।''

आगे डॉ. तिवारी का कहना है, ''इसी भ्रम के निवारण के लिए भारतीय साहित्य की पहचान आवश्यक है। भारतीय साहित्य की पहचान भारत की साहित्यिक भाषिक राष्ट्रीयता की पहचान है।'' अपने उपोद्घात में ही संपादक ने इस ग्रंथ-रचना के प्रस्थान बिंदु का संकेत कर दिया है।

अपनी भूमिका में संपादक ने एक महत्त्वपूर्णप्रश्न उठाते हुए कहा है कि भारतीय साहित्य की पहचान का प्रश्न कब से उठा है? क्या पहले भी इस तरह की पहचान का कोई संकट उपस्थित हुआ था? उसने अपने प्रतिपादन की सीमा और कालावधि निर्धारित करते हुए कहा है—यह प्रश्न उस काल में नहीं था, जब पूरे भारत की सर्जनात्मक मेधा का माध्यम संस्कृत भाषा थी। तब भारतीय साहित्य की ही रचना हो रही थी। यह प्रश्न तो तब उठा, जब क्षेत्रीय बोलियों में साहित्य-सृजन होने लगा। भारतीय साहित्य की पहचान का प्रश्न उस समय से रचे गए साहित्य से है, जबसे भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तत्तद क्षेत्रीय भाषाओं में रचना होने लगी। स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में भारतीय साहित्य से हमारा तात्पर्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचे गए साहित्य से है। (वही, पृ. 1)

इस ग्रंथ में समाविष्ट आलेखों के परिशीलन से संपादक की यह टिप्पणी सहज विश्वसनीय है कि ''एक उर्दू को छोड़कर समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य में एक समान ये तीन तत्व स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—1. प्राचीन भारतीय साहित्य (संस्कृत साहित्य का प्रभाव, 2. पाश्चात्य साहित्य (मुख्यतः अंग्रेजी-साहित्य) का प्रभाव और 3. क्षेत्रीय विशेषता।

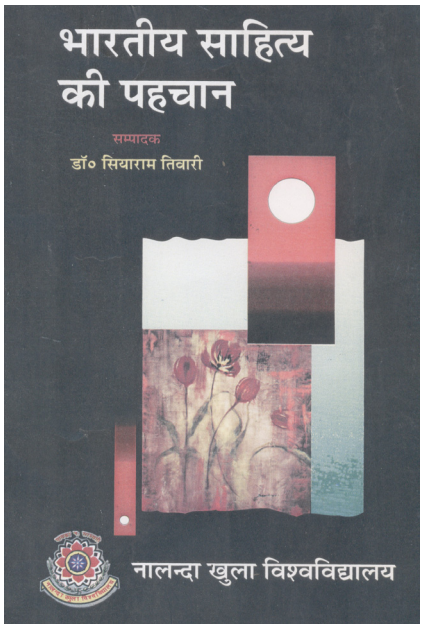

यह चौंकाने वाला तथ्य है कि उर्दू-साहित्य में प्राचीन भारतीय साहित्य से कुछ नहीं आया, यह सर्वविदित है और उसकी कोई क्षेत्रीय विशेषता इसलिए नहीं है कि उसका कोई भौगोलिक क्षेत्र ही नहीं है। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भी उर्दू पर उस रूप में नहीं पड़ा, जिस रूप में और जिस मात्रा में अन्य भारतीय साहित्य पर पड़ा है। उर्दू-साहित्य की जो अपनी विशेषता है, वह आयातित है। (वही, पृ. 2)

भारतीय भाषाओं का साहित्य विषयवस्तु, छंद शास्त्र और काव्य की शास्त्रीय परंपरा की दृष्टि से संस्कृत साहित्य से अनुप्राणित है। आधुनिक काल में भारतीय भाषाओं का साहित्य काव्यरूपों, काव्यचिंतन, दोनों दृष्टियों से अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित है। उर्दू-साहित्य पर भी यत्किंचित पाश्चात्य मान्य सरणियों और चिंतन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

संपादक ने अपनी भूमिका में भारतीय साहित्य को ऐक्य सूत्र में बांधने के मार्ग में आने वाले बाधक तत्वों पर भी विचार किया है। उनमें पहला तत्व है भाषा-भेद। भारत में कोई ऐसी केंद्रीय भाषा नहीं है, जिसमें समूचे देश की मनीषा अपनी अभिव्यक्ति करती हो। हां, एक बात जरूर है भाषा वैविध्य होते हुए भी भारतीय भाषाओं में अंतःसलिला की तरह एकसूत्रता विद्यमान है। वह सूत्र है सभी भारतीय भाषाएं एक ही संस्कृति की उपज हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी सभी भारतीय

भाषाओं में आंतरिक ऐक्यबद्धता है। यहां बाह्य वैषम्य चाहे जितना हो, पर सबकी मानसिकता एक है, सोचने का ढंग एक है, सबके विश्वास एक हैं। भाग्यवाद, कर्मफल और पुनर्जन्म पर विश्वास, परलोक-भय, संसार को क्षणभंगुर मानना, आस्तिकता, आंतरिकता के साथ-साथ बाह्य पवित्रता पर बल, पारिवारिक भावना, सभी जीवों पर दयाभाव, ये तत्व भारतीय मानसिकता के अभिन्न अंग हैं। अगर गहराई से देखा जाए तो यही तत्व भारतीय भाषा और साहित्य में प्रतिफलित होकर उसकी परस्पर एकता सिद्ध करते हैं।

भारतीय साहित्य को एकसूत्रता में बांधने वाला एक तत्व और है, वह है भाषा और शब्द भंडार की भिन्नता के बावजूद साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में संकलित निबंधों के द्वारा इसी ऐक्य को सिद्ध किया गया है। सूरदास जैसा सख्यभाव सिंधी के महामति प्राणनाथ में मिलता है। सिंधी के सचल सरमस्त हिंदी के कबीरदास जैसे ही बाह्याडंबरों के विरोधी थे। भक्ति काल, छायावादी युग, उत्तर छायावादी गीतात्मक प्रवृत्तियां, प्रगतिवादी धारा, नई कविता, उपन्यास साहित्य में झांकती नई प्रवृत्तियां, सभी दृष्टियों से हिंदी और भारतीय भाषाओं के साहित्य में एकता मिलती है।

मलयालम्, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, बंगला, गुजराती, कश्मीरी साहित्य में किसी-न-किसी रूप में वही काव्यप्रवृत्तियां गतिशील मिलती हैं, जो हिंदी में गतिशील रही हैं। समानता के इन बिंदुओं से प्रमाणित होता है कि भारतीय भाषाओं के साहित्यकार एक-दूसरे से जुड़े भी रहे हैं। उन्होंने अपनी भाषाओं में साहित्य-रचना के साथ-साथ हिंदी में भी रचनाएं की हैं। जैसे सिंधी के दलपत (1769-1849) और रोहल नामक मुस्लिम कवि ने हिंदी में रचनाएं कीं। रोहल की हिंदी में 'मनुप्रबोध' और 'अधिबुद्धि' नाम की दो पुस्तकें मिलती हैं। (वही, पृ. 10) रोहल को सिंधी का कबीर कहा जाता है। डोमन साहु 'समीर' ने संताली और हिंदी दोनों में भी लिखा है। मराठी-साहित्य के नामदेव ने हिंदी में भी लिखा है। उनके लिखे 61 पद 'गुरु ग्रंथ साहब' में भी संकलित हैं। मराठी-साहित्य के एकनाथ (1533-1599) ने हिंदी के अलावा कन्नड़ और गुजराती में

भी लिखा है। गुजराती के महान कवि अखा की हिंदी में ग्यारह पुस्तकें हैं। गुजराती के आधुनिक युग के लेखक काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला, महादेव भाई देसाई हिंदी के भी लेखक कहे जाते हैं।

इस ग्रंथ के अनुशीलन से एक तथ्य की ओर पाठक का ध्यान और जाता है और वह है एक भाषा के साहित्यकार से दूसरी भाषा के साहित्यकार का प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण करना। इसके सबसे अच्छे उदाहरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। इनसे विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों ने प्रेरणा भी ग्रहण की तथा स्वयं रवीन्द्रनाथ ने भी दूसरी भाषाओं के कवियों से प्रेरणा ग्रहण की। सिंधी के किशनचंद बेकस (1885-1947) ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रभावित होकर लिखा। मणिपुरी साहित्य में 1929 ई. से नवजागरण आरंभ हुआ। उस काल के मणिपुरी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माइकल मधुसूदन दत्त से प्रभावित थे। उस काल की मणिपुरी-कविता पर संस्कृत और असमिया का भी प्रभाव स्पष्ट है। इस तथ्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। वे हिंदी के संत-साहित्य से परिचित ही नहीं, उससे प्रभावित भी थे। उन्होंने वैष्णव कवियों के जिन पदों का उद्धार किया था, उनमें विद्यापति के भी पद थे। उन्होंने कबीर के एक सौ पदों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था। वे 'गीतांजलि' की रचना के पहले से ही हिंदी संत साहित्य से परिचित थे। रवीन्द्र साहित्य में जिन संतों का उल्लेख मिलता है, उनके नाम हैं—रामानंद, कबीर, रविदास, नानक, दादू, रज्जब, सुंदरदास, सानदास और प्रेमदास। इस अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ''किसी देश की भाषा और उस भाषा में रचा गया साहित्य, दोनों पृथक्-पृथक् और समवेत रूप में वहां की संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं। भारतीय साहित्य की रचना का मूल यहां की सांस्कृतिक एकता में है।'' इस ग्रंथ में संकलित लेखों के द्वारा इसी एकता को खोजने का प्रयास किया गया है।

संविधान द्वारा स्वीकृत 22 भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास पर तत्तद भाषाओं के अधिकारी विद्वानों के 22 लेख इस ग्रंथ में संकलित हैं। लेखों का क्रम अकारानुवर्ती है। जैसे असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, कोंकणी, गुजराती, डोगरी, तमिल साहित्य, तेलुगु, नेपाली, पंजाबी, बंगला, बोडो (बोरो), मणिपुरी, मराठी, मलयालम्, मैथिली, संताली, संस्कृत साहित्य, सिंधी और हिंदी। इसी क्रम से इस ग्रंथ में तत्तद भाषाओं के साहित्येतिहास को विकासक्रम की दृष्टि से खंगाला गया है। सभी लेख संपादक की शोध योजना का अनुवर्तन करते हैं। भारतीय भाषाओं के साहित्य पर स्वतंत्रता के पहले से भी काम होता आ रहा है। इस प्रकार के साहित्य के अनुशीलन का काम नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य सम्मेलन ने भी कुछ किया था। कुछ साहित्यकारों और प्रकाशकों के व्यक्तिगत प्रयासों से भी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर अलग-अलग पुस्तकें लिखवाई गई थीं। साहित्य अकादमी ने अपने स्थापना काल से ही विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास तैयार करवाकर परस्पर भाषाओं में उनके अनुवाद भी करवाए। यही काम राष्ट्रीय पुस्तक न्यास ने भी विभिन्न भारतीय भाषाओं की विधागत प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन द्वारा करवाया। भारतीय साहित्य के निर्माता ग्रंथ योजना के द्वारा भी ऐसे काम करवाए गए, किंतु एक ही जिल्द में संविधान स्वीकृत 22 भाषाओं के साहित्येतिहास का शोधपूर्ण और संहत संकलन मेरे खयाल से यह पहला महत्त्वपूर्ण काम है, जिसके लिए इस योजना के संपादक डॉ. सियाराम तिवारी तथा इस योजना के कार्यान्वयन के लिए सारी सुविधाएं जुटाने के साथ-साथ इसे प्रकाशन की सीमा तक पहुंचाने वाले नालंदा खुला विश्वविद्यालय पटना के यशस्वी और प्रतापी कुलपति श्री विजयशंकर दुबे धन्यवाद के पात्र हैं। वैसे कुलपतियों में ऐसी कल्पनाशीलता इधर विरल होती जा रही है।

संकलित आलेख भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास पर हैं। आलेखों की प्रकृति साहित्येतिहास की काल-विभाजन की अवधारणा के साथ-साथ गद्य और पद्य में समय-समय पर उभरने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकासात्मक अध्ययन करना है। साथ-साथ उन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि लेखकों के प्रदेय का मूल्यांकन करना भी है। कहीं-कहीं दो परस्पर भाषाओं के साहित्य-इतिहास में सिर उठाने वाली समान प्रवृत्तियों की तुलना भी की गई है। किसी-किसी आलेख में प्रवृत्तियों के आधार पर लेखकों और उनकी कृतियों का विवेचन है, लेकिन किसी-किसी आलेख में लेखकों के आधार पर प्रवृत्तियों का विवेचन है।

इस ग्रंथ का महत्त्व एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में शोधार्थियों और पाठकों के लिए सदा उपयोगी बना रहेगा। इसकी विवेचन शैली सहज, प्रसन्न और पारदर्शी है। एक बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास पर उसी भाषा के सुधी विद्वानों द्वारा लेख तैयार कराए गए हैं और ये वे विद्वान हैं, जिनका अपनी भाषा के अलावा हिंदी भाषा पर भी समान अधिकार है और जो हिंदी के भी लेखक हैं। ऐसा नहीं है कि असमिया, मराठी, तमिल, तेलुगु पर पहले तत्तद भाषाओं में लेख तैयार कराए गए हों, फिर उनका उल्था हिंदी में कराया गया हो। इस दृष्टि से इस ग्रंथ की एक उपलब्धि यह भी है कि संविधान द्वारा स्वीकृत 22 भाषाओं के साहित्येतिहास पर उसी भाषा के विद्वान द्वारा हिंदी में आलेख तैयार कराए जा सकते हैं। यह हिंदी के पठन-पाठन में व्यापक रुचि और उसकी व्यापकता का उदाहरण भी है।

ग्रंथ के अंत में दिया गया लेखकों का संक्षिप्त परिचय, उनकी साहित्यिक रुचियों, कृतियों आदि का उल्लेख भी आपसी आदान-प्रदान और परिचय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ को एक आकार ग्रंथ के रूप में महत्ता मिलेगी।

भारतीय साहित्य की पहचान, संपा. : डॉ. सियाराम तिवारी, नालंदा खुला विश्वविद्यालय, पटना-1, मूल्य : ₹ 550

1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001, मोबाइल नं. 09839617349

डायरी

विरल एवं विलक्षण दस्तावेज़

रणजीत साहा

कभी-कभी कोई कृति सुनामी की लहरों की तरह पाठक की स्मृति और सत्ता को झकझोर जाती है या अपने लपेटे में बहाए लिए जाती है। 'अग्निपर्व : शांतिनिकेतन' पढ़ते हुए ऐसा ही कुछ महसूस होता है। अंतर इतना ही है कि अपने साथ अकूत स्मृतियों और घटनाओं का बवंडर (बांगूला में कालबैशाखी) लिए, हिंदी में इतने वर्षों के बाद आविर्भूत (अनूदित) इस कृति के साथ पाठक स्वेच्छा से तब तक बहता चला जाता है, जब तक यह समाप्त नहीं हो जाती। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आमंत्रण पर शांतिनिकेतन विश्वभारती विश्वविद्यालय में इस्लामी धर्म दर्शन के अध्यापक और विख्यात प्राच्यविद् ज़्युला गेरमानूस (1884-1979) के साथ भारत प्रवास के दौरान (1929-1932) उनकी पत्नी रोज़ा हजनोशी गेरमानूस (निधन 1942) भी आई थीं। उन्होंने नियमित रूप से उन तमाम घटनाओं और प्रसंगों को अपनी डायरियों में लिपिबद्ध किया, जिनसे वे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर जुड़ी रहीं। अपनी इस अनोखी पहल द्वारा रोज़ा गेरमानूस ने जाने-अनजाने शांतिनिकेतन को केंद्र में रखते हुए तत्कालीन भारत की आज़ादी से जुड़ी घटनाओं, राजनीतिक उथल-पुथल और विशेषकर रवीन्द्रनाथ तथा महात्मा गांधी से संबद्ध लोगों और परिवेश के बारे में ऐसा जीवंत और रोमांचक विवरण प्रस्तुत किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

भारत आते हुए 'पिल्सनर' नामक पानी के जहाज़ पर की जा रही यात्रा के साथ इस वृहद् रोमांचक डायरी के पन्ने धीरे-धीरे खुलने लगते हैं। जहाज़ के डेक पर ही उन प्रसंगों की नींव पड़ जाती है, जो बाद में रोज़ा के जीवनानुभव को समृद्ध करते जाते हैं। इनमें से एक है पारसी परिवार के साथ भारत आ रहा बालक साम मेहता, जो अपने अत्यंत शिष्ट व्यवहार से रोज़ा का स्नेह-पात्र बन जाता है और दूसरा है पाश्चात्य रंग-ढंग का प्रशंसक एक हिंदू युवक अमिय चक्रवर्ती, जो डेनमार्क की एक अत्यंत सुंदरी युवती हेलगा (बाद में, रवीन्द्रनाथ प्रदत्त भारतीय नाम हैमंती से उल्लेखित) को पत्नी के रूप में शांतिनिकेतन ले जा रहा है। थोड़ा-सा परिचय बढ़ते ही इन आकस्मिक एवं प्रारंभिक प्रसंगों के माध्यम से ईसाई,पारसी और हिंदू, इन तीन धर्मों की अलग-अलग धर्मनिष्ठा और मूल्यों का आकलन शुरू हो जाता है। जहाज़ पर ही, बाद में बेलबूटों वाली एक साल साड़ी में सजी हेलगा को देखकर वह लिखती हैं, ''साड़ी कोई सिली हुई पोशाक

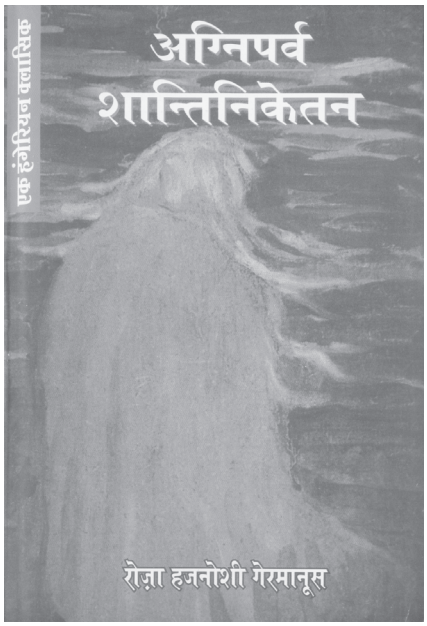

नहीं। यह कोई तेरह फुट लंबी, हाथ से बुना सिल्क वस्त्र होती है, जो ख़ास ढंग से शरीर पर ओढ़ी जाती है, कमर के ऊपर सिर से होते हुए साधुओं की तरह सिर को ढंककर दाएं हाथ पर आ गिरती है। सुनहले बालों और अपनी बर्फ़ जैसी देह वाली श्वेत रंग डेनिश लड़की लाल सिल्क की साड़ी पहने थी, एक अजूबा दृश्य था मेरे लिए।'' (पृ. 52)

इस डायरी में लेखिका ने सम और विषम समाजों में निहित आचार-व्यवहार, खान-पान, धार्मिक रूढ़ियों, सामाजिक मान-मूल्यों, आस्थाओं और आख्यानों को इस तरह पिरोया है कि लगता है वे सारे पात्र और प्रसंग हमारी आंखों के सामने सजीव हो उठे हैं और उन्होंने अपने में हमें भी शामिल कर लिया है।

यहां डेनमार्क से भारत आ रही हैमंती जितनी उत्साहित और रोमांटिक दिखती है, वहां भारतीय परंपराओं में जन्मा, पला-बढ़ा और अब पूरी तरह पश्चिमी सभ्यता में रचा-बसा अमिय पूरी तरह दुखी। इसलिए लेखिका बार-बार एक बुझौवल वाले सवाल से जूझ रही है, ''क्या ठंडे देशों की यह कली, यहां इस असभ्य परिवेश में पान और पीक और नंगधड़ंग लोगों, जात-पांत और रीति-रिवाजों के शिकंजों के बीच, अपना सुख खोज पाएगी।'' (पृ. 53)

पारसी लोगों के विश्वासों की चर्चा करते हुए इसी जहाज़ पर ज़्यूला गेरमानूस रोज़ा को बताते हैं कि जरथ्रुस्त के अनुयायी धरती को पवित्र मानते हैं और अग्नि को भी, जो सब कुछ भस्म कर देती है। ये लोग अपने मृतकों को गाड़ते नहीं, न ही जलाते हैं, क्योंकि इससे दोनों ही तत्व दूषित होंगे। ये शवों को ऊंची मीनार पर रख देते हैं, जिससे गिद्ध उनका मांस नोचकर खा जाएं, सूरज की रोशनी सफ़ेद पिंजरों को धूल में मिला दे और वर्षा धोकर धरती माता में मिला दे। तो रोज़ा इसकी प्रतिक्रियास्वरूप अपनी डायरी में दर्ज करती है, ''उस छोटे-से बच्चे (साम मेहता) को, जो हमारे साथ बैठा था, देखकर मैं मन-ही-मन कांप उठी। क्या यह बालक भी एक दिन गिद्धों द्वारा खा लिया जाएगा? मैंने जल्दी से विषय बदल दिया।'' (पृ. 42)

लेकिन लेखिका को भला यह कहां पता था कि उस मासूम बच्चे का क्रूर अंत इतनी जल्दी घटने वाला है। शिलोंग, जहां साम मेहता ब्लड कैंसर का शिकार होकर अपने जीवन की अंतिम घड़ियों से लड़ रहा था, लेखिका संयोग से वहां उपस्थित थीं, उसने उसकी मृत्यु के प्रसंग का बड़ा ही करुण और हृदय-विदारक चित्र प्रस्तुत किया है, जो एक संवेदनशील रचनाकार ही कर सकती है। वह उन तमाम अच्छी-बुरी यादों को परे रखकर लिखती हैं, ''हां, साम मर गया। वह शांति से चुपचाप मर गया, एक भी शब्द बोले बिना। केवल एक बार मानो अपनी नज़र से सभी से क्षमा मांग रहा हो, अपने माता-पिता से कि उसने उनको इतना दुःख दिया। छोटा-सा विनम्र साम, एक मेमने की तरह मर गया।'' लेखिका को यहां अचानक 'टावर ऑव साइलेंस' की याद आती है, जहां वह कभी हैमंती के साथ सैर के लिए गई थी और वह लिखती है, ''एक गिद्ध का पंख मेरे पैरों के पास पड़ा था। मुझे याद आया 'पिल्सनर' के ऊपर वाले डेक पर पारसी शवगृह के बारे में बातचीत करते वक़्त मैं डर गयी थी—यह सोचकर कि एक दिन छोटे-से साम का शरीर भी गिद्ध नोंच-नोंचकर खा जाएंगे।'' (पृ. 371)

इस बात पर एक पाठकीय आश्चर्य अवश्य व्यक्त किया जा सकता है कि वर्ष 1946 में प्रकाशित 'बेंगाली तूज' (बंगाल की आग) के नाम से इस चर्चित एवं बहुपठित हंगेरियन कृति का अब तक बांग्ला में अनुवाद क्यों नहीं हुआ, जबकि इसके केंद्र में बंगाल के शिखर व्यक्तित्व स्वयं रवीन्द्रनाथ और उनके द्वारा प्रतिष्ठित विश्वभारती है।

बहुत संभव है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रशांतचंद्र महलानवीस, विधुशेखर शास्त्री (और उनका आवारा बेटा प्रसाद), रथीन्द्रनाथ ठाकुर (रवीन्द्रनाथ के पुत्र), नंदलाल बसु, नैपाल बाबू आदि पात्रों का उल्लेख करते हुए लेखिका से कहीं चूक हो गई हो या संरचना के स्तर पर ली गई छूट और ठाकुर परिवार के प्रभाव के कारण बांग्ला में अब तक इसका अनुवाद नहीं किया गया। रोज़ा के कच्चे-पक्के विचार और आधे-अधूरे विवरण बंगाल की, विशेषकर रवीन्द्रनाथ के परिवार और शांतिनिकेतन परिसर में रवीन्द्रनाथ के प्रभामंडल से जुड़े महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी लोगों की बनी-बनाई छवि को धूमिल न करें, शायद इस डर से भी, क्योंकि बांग्ला में तो किसी विदेशी कृति और वह भी ऐसी चर्चित कृतियों के अनुवाद की लंबी परंपरा रही है। आशा है, अब जल्दी ही बांग्ला में भी यह अनूदित होकर प्रकाशित होगी।

जो भी हो, रोज़ा गेरमानूस ने एक प्रवासी के नाते उन तमाम छोटे-बड़े प्रसंगों से प्राप्त अनुभवों को अपने रोजनामचे में संजोया है। अपने पति के साथ विभिन्न कार्यक्रमों एवं अनुष्ठानों के बारे में जानकारियां जुटाकर, जिनमें स्वयं रवीन्द्रनाथ उपस्थित होते या जिनकी अनुपस्थिति या अवकाश के दौरान शांतिनिकेतन जैसे शांत और अपरिचित स्थान में भी उनकी दृष्टि से कोई गतिविधि या हलचल बच नहीं पाती, वह उन्हें निष्ठापूर्वक लिखती चली जाती है। वह न केवल भारतीय लोगों की जीवन-पद्धति और उसके विरोधाभास पर कटाक्ष करती है, बल्कि विदेशी अध्यापकों— प्रोफ़ेसर कालिन्स, रूसी अध्यापक बोगदानोफ़, जर्मन युवती गेरद्रुड रुडिगर, हंगरी से भारत आई मां और बेटी चित्रकार—सास ब्रूनर एलीज़ाबेथ और एलीज़ाबेथ ब्रूनर, डॉ. टिम्बरिस और उनकी डॉ. पत्नी, रेवरेंड लिंडसे, पियेत्रे गौदानिये, पॉल बोडिंग, बैलेंटीन ट्रैप आदि के जीवन के अछूते और कभी-कभी अप्रिय प्रसंगों को भी डायरी में उतार लेती है। सास एलिजाबेथ ब्रूनर ने शांतिनिकेतन रवीन्द्रनाथ की कई प्रतिकृतियां बनाई थीं, उन्हीं का एक चित्र इस पुस्तक के आवरण पर भी है। मां-बेटी की जीवनचर्या का प्रसंग इस कृति में बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जो अपनी अजीबोगरीब हरक़त से शांतिनिकेतन में काफ़ी चर्चित हो जाती हैं।

यह तो स्पष्ट है कि इस कृति में बहुत-से प्रसंगों को अनुमान के आधार पर या अख़बारी सूचनाओं के अनुसार बाद में घटाया-बढ़ाया गया है, विशेषकर धर्मदर्शन संबंधी विचार, धार्मिक विमर्श, जामा मस्जिद में भाषण आदि से इस तथ्य की पुष्टि होती है। एक संभावना यह भी है कि रोज़ा की मृत्यु के बाद, स्वयं उसके पति ज़्यूला ने डायरी में दर्ज प्रसंगों को अपने अनुभवों से

भी सींचकर समृद्ध किया हो। उनमें उन वैचारिक और दार्शनिक विमर्शों के अंश जोड़े हों, जो सचमुच उनके ही प्रतीत होते हैं और जो पाठकों की आकांक्षा पर भी खरे उतरते हैं, वर्ना साबरमती आश्रम के तथ्याश्रित विवरण और गांधीजी द्वारा रवीन्द्रनाथ को लिखे एक पत्र के लंबे अंश उद्धृत नहीं किए जाते। एक उदाहरण यहां मौजूं होगा, ''मैंने एक बार कवि को लिखा था कि मैं कभी विज्ञान की पूजा करने नहीं जाऊंगा। मेरे अनुभवों ने मुझे सिखाया है कि विज्ञान नैतिक मूल्यों की एक बूंद भी नहीं बढ़ाता। तर्कशास्त्र और कोरे वैज्ञानिक सिद्धांत एक बंदूक़ की तरह हिंसात्मक हैं। केवल नैतिक शक्ति ही पृथ्वी के संतुलन की रक्षा कर सकती है।'' (पृ. 353)

यह भी संयोग ही है कि रोज़ा गैरमानूस जब भारत में थी, तब भारत का स्वाधीनता आंदोलन अपने चरम पर था। एक ओर महात्मा गांधी का अहिंसक असहयोग आंदोलन था तो दूसरी ओर चरमपंथियों की हिंसक क्रांति। इस स्वातंत्र्य संग्राम के केंद्र में महात्मा गांधी थे तो वैचारिक आंदोलन के केंद्र में रवीन्द्रनाथ। उन दोनों के ही संदेशों को सारा विश्व तब बड़े ध्यान से और सम्मान के साथ सुन रहा था। अप्रत्यक्ष तौर पर शांतिनिकेतन भी इस आंदोलन का हिस्सा था और रवीन्द्रनाथ के इस अनुशासन के बावजूद कि आश्रम के अध्यापक और छात्र राजनीति से दूर रहें, शांतिलाल, नंदिनी, भंडारकर और हैमंती आदि ने इसमें सक्रिय भूमिका निभाई थी, बल्कि हैमंती ने महात्मा गांधी, मीरा बेन, फादर लिंडसे और हज़ारों नमक सत्याग्रहियों के साथ दांडी मार्च में हिस्सा लिया था। उस ऐतिहासिक घड़ी का बहुत ही प्रामाणिक चित्रण इस कृति में किया गया है। अपने पति अमिय का विरोध झेल रही हैमंती ने तब सबके सामने समुंदर में डुबकी लगाकर अपनी उपस्थिति जताई तथा गंदले और भूरे रंग का 'गांधी नमक' हाथ में लेकर अमिय के पास भी भिजवा दिया था, यह जताते हुए कि उसकी गांधीजी के प्रति पूरी निष्ठा है। वह उसको जरूर मानकर चलेगी, चाहे रास्ते कितने ही कठिन हों और उसे इसके लिए चाहे जहां जाना पड़े। बाद में अमिय की अन्यमनस्कता और जर्मन युवती गेरट्रुड के प्रति उसके आकर्षण ने हैमंती के वैवाहिक जीवन को न केवल उदासीन, बल्कि विषाद से भर दिया था और वह हिमालय की शरण में साधु-संतों-तांत्रिकों आदि के संधान में भटकने लगी। इस उपक्रम द्वारा लेखिका ने भारतीय धर्म-साधना, अध्यात्म, तंत्र-मंत्र, भूत-भभूत और चमत्कारों का विवरण दिया है, जिनके लिए भारत पश्चिमी जगत में विख्यात या कुख्यात रहा है।

इस कृति की सबसे बड़ी ताक़त है लेखिका की बेबाकी। वह किसी भी पात्र, प्रसंग, प्रश्न स्थिति और सुनी-अनसुनी बातों पर अपनी दो-टूक प्रतिक्रिया व्यक्त करती है और ऐसा करते हुए तमाम गतिविधियों के केंद्र में भी बनी रहती है। अगर उसे लगता है कि मेरी बातों में दम है तो उस पर अंत तक टिकी भी रहती है। इस डायरी में गेरमानूस दंपती द्वारा जून में कश्मीर यात्रा के कई रोचक प्रसंग वर्णित हैं, जो वहां की बेमिसाल खूबसूरती, शिकारे की सैर और फिर अचानक आई बाढ़ से संबंधित हैं।

यह आकस्मिक भी हो सकता है और रोज़ा गेरमानूस की रचनात्मक कल्पनाशक्ति का विनियोग भी कि उसने अपने पति ज़्यूला गेरमानूस के शागिर्द और बिगड़े रईस हैदर अब्बासी और जर्मन युवती गेरट्रुड के प्रणय-प्रसंग को औपन्यासिक जामा पहनाकर बेहद रोमांचक बना दिया है। इस रचना-युक्ति में अमिय चक्रवर्ती को भी बड़े विश्वसनीय ढंग से नत्थी कर उसने प्रेम का ऐसा त्रिकोण तैयार किया है कि पाठक की उत्सुकता गुणात्मक ढंग से बढ़ती जाती है। इस त्रिकोण में अमिय चक्रवर्ती की कथित भूमिका, एक साधु के भविष्य कथन और गुलमर्ग़ (श्रीनगर) के एक अनजान इलाक़े में बड़े ही नाटकीय ढंग से हैदर अब्बासी द्वारा गेरट्रुड की हत्या–एक ऐसी त्रासदी है, जो एक साथ कइयों की सनक, समझ और सपने को चूर-चूर कर जाती है।

भारत से विदा होने के पहले रवीन्द्रनाथ ने रोज़ा गेरमानूस की अठारहवीं डायरी के एक खाली पृष्ठ पर बांग्ला में और अंग्रेजी में एक छंद लिखकर हस्ताक्षर किया था–

'शिकड़ भाबे सेयाना आमि, अबोध जत शाखा।
धूलि ओ माटि सेइ तो खांटि,
आलोक लोक फांका।'
(द रूट इज़ स्योर दैट द ब्रांच इज़ ए फूल,
दैट द डस्ट इज़ रीयल एंड द हैवन विद इट्स लाइट इज़ एम्प्टिनेस।)

इसका हिंदी अनुवाद है–

''मूल सोचता मैं ही सयाना, मूरख है ये डाली,
सच है केवल धूल औ माटी आलोक लोक है खाली।''
(पृ. 593)

लेखिका ने उस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक और भावुक चित्र उकेरा है, जब अमिय अपने बच्चे के जन्म पर चिल्लाकर कहता है, 'मेरा बेटा हुआ है, मेरा जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ।' (पृ. 592) स्वयं रवीन्द्रनाथ भी इस बच्चे को देखने के लिए उत्तरायण से चलकर अमिय के छोटे-से घर में आए थे और नीली आंखों, घुंघराले बालों वाले उस गोल-मटोल शिशु को गोद में उठाकर चूम लिया था।

अपने यात्रावृत्त (रोज़नामचा या डायरी) को समाप्त करते हुए लेखिका कहती हैं, ''पिछले तीन सालों से मैं निष्ठापूर्वक अपना रोज़नामचा लिख रही थी और यह अठारहवीं डायरी थी। मेरी सारी उदासी, खुशियां, निराशा अपने देश (हंगरी) के लिए तड़प, सब कुछ इसमें है, जो मैंने स्वतः बेतरतीब ढंग से लिखा है।'' (पृ. 573)

यह रोचक (रोज़नामचा या डायरी) को समाप्त करते हुए लेखिका कहती हैं, ''पिछले तीन सालों से मैं निष्ठापूर्वक अपना रोज़नामचा लिख रही थी और यह अठारहवीं डायरी थी। मेरी सारी उदासी, खुशियां, निराशा अपने देश (हंगरी) के लिए तड़प–सब कुछ इसमें है, जो मैंने स्वतः बेतरतीब ढंग से लिखा है।'' (पृ. 573)

यह रोचक रोज़नामचा, जो अपने आपमें कई विधाओं (आत्मकथा, रिपोर्ताज़, उपन्यास, यात्रा-वृत्त) को समेटे हुए है। यह एक ओर सांस्कृतिक एवं वैचारिक टकराव का ऐतिहासिक और प्रामाणिक दस्तावेज़ है तो दूसरी ओर इन मानवीय संवेदनाओं का अनुपम संग्रह भी, जो धर्म, जाति, वर्ण और स्थान में कोई अंतर नहीं देखता। यह एक ऐसी अनोखी और कभी-कभी अविश्वसनीय

प्रतीत होने वाली अप्रतिम कृति है, जो पाठकों को एक साथ चमत्कृत और अभिभूत करती है। इसके अनुवादक श्री कार्तिकचंद्र दत्त ने इस अत्यंत दुर्वह कार्य को संपन्न कर भारतीय पाठकों-विशेषकर हिंदी पाठकों को एक ऐसी कालजयी हंगेरियन कृति से परिचित कराया है, जिसे आज भी हंगेरियन पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं और हज़ारों की संख्या में आज भी जिसके संस्करण छपते हैं।

यह देखना सचमुच प्रीतिकर लगने लगता है कि तत्कालीन भारतीय समाज के अंदर-बार व्याप्त अंधरूढ़ियों, धार्मिक कुसंस्कारों, अशिक्षा, कुरीतियों, जाति-व्यवस्था, छुआछूत और यहां की अझेल गंदगी से चिढ़ने वाली और नाक पर रूमाल रखकर बाहर निकलने वाली रोज़ा को भारत धीरे-धीरे क्यों बेहद प्रिय लगने लगता है, जबकि अपने भारत प्रवास और भारत के विभिन्न स्थानों की यात्रा के दौरान उसका सचमुच कीड़े-मकोड़ों, मक्खियों-मच्छरों, तिलचट्टों और सांपों से जुड़े प्रसंगों से पाला पड़ा था। तब पश्चिमी देशों से भारत आने वाले लोगों के लिए यहां लंबे समय तक रहना चुनौती ही नहीं, एक तरह की सज़ा भी थी, क्योंकि यहां की गर्मी, वर्षा, उमस, गंदगी, जानलेवा बीमारियों, असुविधाओं और सुख-सुविधा की कमी के बावजूद विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के अनुरोध की रक्षा करते हुए तब भी कई विद्वान शांतिनिकेतन आए थे और कई तो यहीं बस गए। ऐसे विद्वानों की संख्या तो अब तक हजारों में हो सकती है, जो थोड़े-बहुत समय के लिए शांतिनिकेतन में रहे हों, लेकिन अपने तीन वर्षों के प्रवास के दौरान जितनी गहराई,संबद्धता और मर्मवेधी दृष्टि से इस हंगेरियन गृहवधू रोज़ा गेरमानूस ने प्रिय-अप्रिय स्थितियों का तल्ख़ी और तुर्शी के साथ, वस्तुपरक और आत्मपरक ढंग से आकलन करते हुए पूरी निष्ठा से और विस्तारपूर्वक लिपिबद्ध किया है, वह सचमुच हैरतअंगेज है। शांतिनिकेतन और पास के श्रीनिकेतन से जुड़े आश्रम के सुख-दुःख, संताल गांवों का जीवन और उनके उत्सव, सुरुल गांव में होने वाली दुर्गापूजा का भी उल्लेख है, जिसमें बलि के लिए ले जा रही लड़की का गेरट्रुड द्वारा भीड़ से खींच कर ले आने का लोमहर्षक विवरण है। इसी तरह विभिन्न हिंदू तीर्थ स्थानों में पंडे-पुरोहितों के हथकंडे, ताजमहल परिक्रमा, लखनऊ, लाहौर और दिल्ली (लाल क़िला, जामा मस्जिद जाने और कुतुब मीनार के ऊपर चढ़ने) के प्रसंग इतने जीवंत हैं, जो किसी को भी सहज ही बांध लेते हैं। कोई उन तथ्यों और विन्यस्त घटनाओं से सहमत या असहमत हो सकता है, पर उन्हें नकार दे, यह क़तई मुमकिन नहीं।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन में ऐसे भी क्षण आते हैं, जब ये सभी अपनी कृत्रिम और संकीर्ण सीमाओं से उठकर सार्वदेशिक और सार्वभौमिक हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इसे ही व्यक्ति की मुक्ति से जोड़कर देखा था और ससीम का असीम से साक्षात्कार बताया था।

इस कृति का अंत भी ऐसे ही आभायुक्त प्रसंग से होता है, जब रोज़ा गेरमानूस ऐसे ही विरल और विलक्षण क्षण से गुज़रती है।

''शांतिनिकेतन के कस्तुरिका पक्षियों का संगीत। अचानक एक तीर-सा मेरे सीने में चुभने लगा। मैं जहाज़ की रोलिंग को ज़ोर से पकड़े थी और मेरी आंखें आंसुओं से लबालब भर आईं।

मेरा मन, मेरे अपने हिंदुस्तान के लिए तरसने लगा। हिंदुस्तान, जो चमत्कारों का देश है और वह सब कुछ जो डरावना है, समझ से बाहर है, बेकार के अंधविश्वासों से भरा, लेकिन फिर भी वह बखूबी मेरे चारों ओर लिपटा है।

लाल चमकता सूरज समुद्र में डूब रहा था। जादू से इसकी लाली ने मेरी नज़रों के सामने एक रक्तिम आभा बिखेर दी—यह आभा बंगाल की अग्नि की ज्वाला थी। बंगाल की अग्नि! इसकी धधकती लपटों में भगवान शिव अनंत काल से कैलाश पर्वत की चोटी पर तांडव नृत्य कर रहे हैं।'' (पृ. 596)

'अग्निपर्व : शांतिनिकेतन' जैसी वृहत्काय कृति को अनूदित करते हुए अनुवादक कार्तिक चन्द्र दत्त ने एक समर्पित शोध अध्येता की तरह सारी सामग्री के एक-एक पक्ष पर ध्यान रखा है और साथ ही समस्त संबंधित विवरणों, सूचनाओं, पात्रों-प्रसंगों एवं ऐतिहासिक तथ्यों की जांच की है। मूल (हंगेरियन) पाठ और अनूदित अंग्रेजी पाठ (अनुवादक : डेविड ग्रांट, 1993 में ढाका बांग्लादेश से प्रकाशित) को मिलाकर जहां कहीं भी विचलन या प्रमाद था, उन्हें दुरुस्त कर दिया गया है। नामों एवं स्थानों का हिन्दी में उच्चारण, जो कि एक हद तक संभव है, मूल हंगेरियन के अनुरूप है। पुस्तक के अंत में विवरणिका द्वारा कृति में उपस्थित पात्रों, स्थानों और घटनाओं की सुविस्तृत जानकारी दी गई है, जो पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार, भाषिक संरचना के स्तर पर ही नहीं, संवेदना के स्तर पर भी संश्लिष्ट वाक्यों में विन्यस्त उपवाक्यों और पदबंधों को यथासंभव हिंदी की प्रकृति के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत किया गया है। चूंकि इस कृति का परिवेश और परिदृश्य भारतीय है, इसलिए अंग्रेजी के मुकाबले हिंदी की पाठ-प्रस्तुति कहीं अधिक स्वाभाविक और प्रभावी बन पड़ी है। बात यहां हंगेरियन, अंग्रेजी या बांग्ला की नहीं है, देखना यह है कि वह संबोध्य पाठकों की अपेक्षा पर कितनी खरी उतरी है। अनूदित कृति में यदा-कदा अवश्य ही एकाध प्रयोग अटपटे लग सकते हैं, लेकिन यहां यह ध्यान में रखना होगा कि रोज़ा एक संवेदनशील और पढ़ी-लिखी गृहिणी (गृहवधू) है, कोई 'ऐकेडेमिशियन' नहीं, बावजूद इसके भाषा और मुहावरे पर उसकी ज़बरदस्त पकड़ का सानी नहीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 150वीं जन्मजयंती पर राजकमल प्रकाशन ने इस विरल और विलक्षण कृति को प्रकाशित कर निस्संदेह हिंदी को और भी समृद्ध किया है। आशा है, इसका पेपरबैक संस्करण भी जल्दी ही प्रकाशित होगा ताकि हिंदी के अधिकाधिक पाठक, रवीन्द्र और गांधी युग के अबूझ और अतुल्य भारत से और अधिक परिचित हो सकें, जिसे विदेशी आंखें तब से लेकर आज तक बड़ी हैरानी से ढूंढ़ती रही हैं।

अग्निपर्व : शांतिनिकेतन (एक हंगेरियन क्लासिक)/ रोज़ा हजनोशी गेरमानूस, अनु. : कार्तिकचंद्र दत्त, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 750

भारतीय भाषा केंद्र/जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय/ नई दिल्ली-110067/मो. 9811262257

हमने स्मृतियों के दीप जलाए

सत्यकेतु सांकृत

शेखर जोशी हिंदी के एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। कथा साहित्य का वैविध्य आरंभ से ही उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता रहा है। हाल ही में अपने नए अंदाज में जोशीजी की एक सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'स्मृति में रहें वे' सामने आई है। समीक्ष्य पुस्तक में लेखक ने अपनी स्मृति के पन्नों को पलटने के क्रम में अपने भूले-बिसरे चित्रों को उकेरने का प्रयास किया है और उन खूबसूरत लम्हों से हमारा साक्षात्कार कराया है, जिनका दीदार उन्होंने खुद किया है। प्रथम सूचना के आधार पर प्रस्तुत इस पुस्तक को अगर एक ईमानदार कलाकार की खूबसूरत कलाकृति की संज्ञा दी जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह रचना जोशीजी ने अपने विवाह की पचासवीं वर्षगांठ पर रची है जो उनके बेहतरीन सौंदर्यबोध को सहज ही हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देती है। लेखक ने बड़ी चतुराई से अपने बीते दिनों को याद करने का यह समय चुना है और ऐसे शब्द चित्रों का निर्माण किया है, जो लेखकीय विजन को स्पष्ट कर देता है। इसके साथ-साथ पूर्व में लिखित पर कतिपय कारणों से शायद अप्रकाशित कुछ काव्य चित्र, कुछ संस्मरण, रिपोर्ताज, डायरी, संवाद और लोकराग आदि को भानुमती के कुनबे की तर्ज पर जोड़कर एक पुस्तकाकार रूप प्रदान करने का व्यावसायिक प्रयास भी किया गया है। पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार ''प्रस्तुत संकलन उन शब्दचित्रों के अतिरिक्त यशपाल, कमलेश्वर, विद्यासागर नौटियाल और लेखक के व्यक्तिगत जीवन को मिलाकर कुल दस संस्मरणों के साथ काव्यचित्र, रिपोर्ताज, लोकराग और डायरी शीर्षक के अंतर्गत समय-समय पर लिखी, प्रसारित की गई रचनाओं, वार्ताओं को सम्मिलित कर इसे विविधा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रिय कहानीकार के अंतरंग जीवन, उसकी चिंताओं और व्यापक सरोकारों को निकट से जानने के लिए पाठकों के हित में यह जरूरी किताब होगी।''

'स्मृति में रहें वे' कुल सात खंडों में विभाजित है, जिसमें पहला खंड 'शब्दचित्र' का है। इस खंड में 'एकाकी देवदारू', 'अखोड़झड़े', 'हिरदा', 'देबिया', 'मोहनदा', 'नेतका' और 'हैड मांसिजर मंटू' नामक कुल सात लेख चित्रित हैं, जिनमें नएपन का अहसास पैदा करने के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने इन्हें शब्दचित्र कहना ज्यादा पसंद किया है। इन शब्दचित्रों के माध्यम से लेखक ने अपने बीते दिनों को याद करने के साथ-साथ उन

लम्हों से भी हमारा साक्षात्कार कराया है, जिसने किसी-न-किसी रूप से उसके व्यक्तित्व निर्माण में अहम भूमिका निभाई थी। अपने पहले ही शब्दचित्र में लेखक का वक्तव्य है, ''देवदारू के वृक्ष भी कम नहीं थे। समीप ही पूरा अरण्य 'दारु-वणि' के नाम से प्रख्यात था। हजारों-हजार पेड़ पलटन के सिपाहियों की मुद्रा में खड़े हुए। कभी 'सावधान' की मुद्रा में देवमूर्ति से शांत और स्थिर तो कभी हवा-वातास चलने पर सूंसाट-भूंसाट करते साक्षात् शिव के रूप में तांडव-रत, लेकिन हमारे 'एकाकी देवदारू' की बात ही और थी। वह हमारा साथी था, हमारा मार्गदर्शक था। 'दारूवणि' जहां समाप्त हो जाती है, वहां से प्रायः फर्लांग भर दूर, सड़क के मोड़ पर, झाड़ी-झुरमुटों के बीच वह अकेला अवधूत-सा खड़ा रहता था, जैसे कोई साधु एक टांग पर तपस्या में मग्न हो।'' इस शब्दचित्र में लेखक का अपने परिवेश और वातावरण के प्रति लगाव और प्रकृति से कुछ सीखने की ललक निरंतर दिखाई देती रहती है, पर वहीं जब आधुनिकता की आड़ में सड़कों के चौड़ीकरण के तहत वृक्षों को काटने का उपक्रम किया जाता है, तब लेखक का संवेदनशील हृदय क्रंदन कर उठता है। उसके शब्दों में, ''वर्षों बाद मैं उसी मार्ग से गांव लौट रहा था। जंगलात की बटिया अब मोटर सड़क बन गई है, परंतु जिस समय उस मोड़ पर सड़क को चौड़ा करने के लिए निर्माण विभाग वाले एकाकी देवदारू को काट रहे होंगे, रस्सियां लगाकर उसकी जड़-मूल को निकालने का षड्यंत्र रच रहे होंगे, उस समय शायद किसी ने उन्हें यह न बताया होगा कि यह स्कूली बच्चों का साथी 'एकाकी देवदारू' है, इसे मत काटो, इसे मत उखाड़ो,

अपनी सड़क को चार हाथ आगे सरका लो। शायद सड़क बनवाने वाले साहब ने कभी बचपन में पेड़-पौधे से समय नहीं पूछा होगा, उनकी बांहों पर बैठकर झूलने का सुख नहीं लिया होगा और सुबह की धूप के उस केसरिया टीके, पीली पगड़ी और सफेद दुशाले की कल्पना भी नहीं की होगी। अब वहां सिर्फ एक सुनसान मोड़ है और कुछ भी नहीं।'' शेखर जोशी में अपने बीते दिनों को याद कर उसे अपनी जादुई भाषा में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता है। उनकी इस भाषायी शक्ति का कमाल आद्यंत समीक्ष्य कृति में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए उनके शब्द चित्र के 'अखोड़झड़े' का एक अंश दृष्टव्य है, जिसमें वे एक बार फिर से अपने बचपन के दिन को अपने जेहन में उतारते हुए एक ऐसा दृश्य उपस्थित कर देते हैं, जिसमें ग्रामीण परिवेश में पले-बढ़े सभी को अपने लड़कपन के दिन थोड़े-बहुत अंतर के साथ बिजली की चमक के समान कौंध उठते हैं। लेखक के शब्दों में, ''जब अखरोटों के पकने की ऋतु आती तो गांव के प्रधानजी हमारी अधीरता देखकर अखोड़झड़े का दिन निश्चित कर देते। उस दिन गांव भर के बच्चे बिन बुलाए, बेझिझक, हाथों में लंबे-लंबे थैले लेकर पेड़ के नीचे आ जुटते। कितनी अधीरता से हम लोग इस बात की प्रतीक्षा करते कि फल झाड़ने वाला कब पेड़ पर चढ़े और कब बांस से टहनियों पर प्रहार करे। प्रतीक्षा का एक-एक क्षण हमें वर्षों-युगों सा दीर्घ प्रतीत होता था, पर हमारी उत्सुकता को शांत करता हुआ वह आता और पेड़ पर चढ़ जाता। बस सबकी आंखें उसी ओर लगी रहतीं। हम लोग चिल्लाते, 'इस ओर, उस डाल में ज्यादा फल है', पर वह हमारे आदेशों की उपेक्षा कर अपनी रीति से, अपनी सुविधानुसार, इधर-उधर, ऊपर-नीचे, सभी ओर घूमता रहता। ढलाऊ भूमि पर गोल-गोल, सांवल-हरे अखरोट गिरते। यहां-वहां, इस ओर, उस तरफ, वृक्ष के निकट, वृक्ष से दूर, इस झाड़ी में, उस खड्ड में, मार्ग में, खेतों में, पास के नाले में, सिसूंण (बिच्छू घास) के झाड़ में, कांटों की बाड़ में, कई अखरोट घास में गिरते-लुढ़कते छिप जाते, परंतु आश्चर्य! कहीं भी किसी कोने में भी कोई ऐसा फल नहीं बचा रहता, जिसे हमारी आंखें न पकड़ पाती हों। घास हो, पानी हो, सिसूंण हो, खड्ड हो, कोई-न-कोई गुप्तचर वहां पहुंचकर उन फलों को बंदी बना ही लेता। कभी-कभार झिझक होती, सांप-कीड़ों की आशंका होती, पर एक अदम्य उत्साह की लहर उठती तो उसके सामने ये बातें गौण हो जातीं।'' ग्रामीण संस्कृति का एक ऐसा अनुपम दृश्य है, जिसे प्रायः त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। जोशीजी को इस लुभावने दृश्य के प्रस्तुतिकरण में अद्‌भुत सफलता मिली है।

'स्मृति में रहें वे' का दूसरा खंड 'काव्यचित्र' का है। इसमें 'पहली वर्षा के बाद', 'नदी किनारे', 'ग्रीष्मावसान', 'धान-रोपाई', 'प्रवासी का स्वप्न', और 'नंगातलाई से लौटकर' नामक कुल छः कविताएं संग्रहीत हैं, जिनके माध्यम से ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी गद्यकार ने काव्य-चित्रों को उकेरकर अपने कवि मन की भड़ास निकालने का प्रयास किया हो। जोशीजी का क्षेत्र कविता का नहीं रहा, पर काव्यात्मक प्रतिभा उनके भीतर थी और समय-समय पर वह जोर भी मारती रही थी। यह बात उनके काव्यचित्र के साथ-साथ इस पुस्तक के तीसरे खंड में संग्रहीत रिपोर्ताज खंड में भी नजर आती है। 'बाबा! खोलो परद वर देखिए' और 'काले कौवा! काले! काले!' नामक रिपोर्ताज में पहाड़ी संस्कृति अपने पूरे निखार पर दृष्टिगोचर हुई है। इस पुस्तक में चित्रित पहाड़ी संस्कृति बहुत कुछ भारतीय संस्कृति को ही प्रतीकित करती है। पूरी भारतीय संस्कृति में, विशेषकर विवाहोत्सवादि में थोड़े-बहुत अंतर के साथ गाए जाने वाले गीतों का अपना महत्त्व है। इन गीतों के माध्यम से ही जोशीजी ने पहाड़ की संस्कृति को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके साथ-साथ लेखक ने अपने दूसरे रिपोर्ताज में कुमाऊं जीवन के इतिहास और उसकी संघर्ष गाथा को भी अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। लेखक के अनुसार, ''अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में कुमाऊं के निस्तेज और विभाजित सामंतों को पराजित कर गोरखों ने प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया था और इसके साथ ही प्रारंभ हुआ था वह निरंकुश शासन, जिसके अत्याचारों

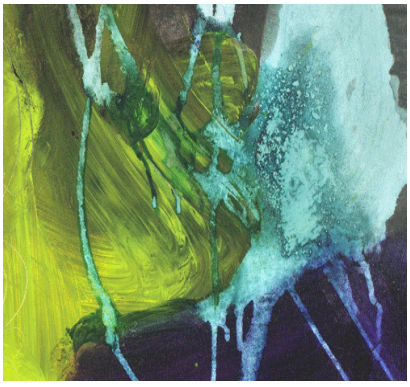

ने पूरे कुमाऊं को बर्बर दास प्रथा के युग में धकेल दिया। लूटपाट, अत्याचार और अनाचार का नंगा नाच!'' आगे लेखक के ही शब्दों में ''लेकिन मनुष्य अजेय है। किसी भी युग में दबाया-कुचला नहीं जा सका और न कभी ऐसा हो पाएगा। अंततः उत्तराखंड में भी जनचेतना का ज्वार आया। शोषित, अपमानित जनता अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए सर्वस्व दांव पर लगा देने के लिए उद्यत हो उठी। मुक्ति की अलख जगाने संग्रामियों की टुकड़ियां गांव-गांव का दौरा करने लगीं। जुलूस और सभाओं ने निराशा और पस्ती के वातावरण में उत्तेजना फूंक दी। इतिहास का एक अमानवीय दौर खत्म हुआ। पवित्र सरयू उस कलंक को अपनी तेज धारा में बहा ले गई।''

समीक्ष्य कृति का चौथा खंड 'संस्मरण' का है। इसमें कुल नौ संस्मरण संग्रहीत हैं। इन संस्मरणात्मक लेखों के माध्यम से जोशीजी ने यशपाल, सुमित्रानंदन पंत, पं. गोविंदवल्लभ पंत, अमरकांत, शैलेश मटियानी, कमलेश्वर जैसे चर्चित रचनाकारों पर विस्तारपूर्वक विधेयवादी दृष्टिकोण से विचार किया है और उन महानुभावों के संबंध में ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान की हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। यशपाल, अमरकांत, कमलेश्वर जैसे महत्त्वपूर्ण रचनाकारों पर शोध करने वाले छात्रों के लिए ये संस्मरण निश्चित ही सूचनाप्रदत्त सिद्ध होंगे। इसके साथ-साथ जोशीजी ने अपने इन संस्मरणों के माध्यम से अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी ऐसी जानकारियां दी हैं, जो भविष्य में हिंदी जगत् के लिए निश्चित ही मील का पत्थर साबित होंगी। कम शब्दों में अधिक जानकारी प्रदान करने का अद्‌भुत सामर्थ्य जोशीजी के लेखन में है और यह बात भलीभांति उनके संस्मरणों में दिखाई

पड़ती है।

प्रस्तुत पुस्तक का पांचवां खंड 'लोकराग' का है। इसमें जोशीजी ने जीवन से जुड़े अत्यंत संवेदनशील मुद्दों पर दृष्टिपात किया है। इस खंड में 'आपदेव का गीत', 'अथ बारात कथा' और 'कुमाऊंनी लोकोक्तियों में स्थानीय रंगत' जैसे लेखों के मार्फत उन्होंने कुमाऊंनी संस्कृति का कमाल का चित्रण किया है। उसके 'लोकराग' में पूरी कुमाऊंनी संस्कृति अपनी पूर्णता में पूरे वैभव के साथ चित्रित हुई है। लेखक की अपनी जन्म-स्थली के प्रति लगाव की तीव्रता देखते ही बनती है और ऐसा प्रतीत होता है मानो इस चित्रण में उसने अपनी पूरी संवेदना ही उड़ेल दी हो, पर उसने अपने इन लेखों में गांवों के प्रति केवल गलदश्रू भावुकता ही नहीं प्रदर्शित की है, बल्कि उन परिस्थितियों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया है, जिनके कारण कि गांव की अपनी संस्कृति का वजूद ही खतरे में दिखाई पड़ रहा है। गांव में शहरी वातावरण का बढ़ता हस्तक्षेप और उसके स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों से लेखक आहत है। 'अथ बारात कथा' में लेखक कहता है, ''पिछले दिनों पहाड़ जाने पर विवाह-बारातियों को लेकर नया अनुभव हुआ, नई जानकारियां मिलीं। अब गांव के निकटस्थ छोटे-मोटे बाजारों में भी कैटरिंग के सुविधा केंद्र खुल गए हैं। घर की सजावट से लेकर, कुर्सी-मेज, गद्दा-रजाई सब सामान वहां उपलब्ध हो जाता है। आपको साग-सब्जी की चिंता करने की जरूरत नहीं, तराई की मंडियों से सब सामान मंगाकर कैटरर आपकी ओर से खान-पान की पूरी व्यवस्था कर देगा। गांव में भी बुफे सिस्टम चालू हो गया है। वे पंगत में खिलाने और आग्रह-मनुहार के दिन अब बीत गए। अब सब पैसों का खेल है।'' इस प्रसंग में लेखक का दर्द और उसका व्यंग्य सहज ही गोचर हो उठा है।

समीक्ष्य पुस्तक का छठवां खंड 'संवाद' का है, जिसमें जोशीजी द्वारा विभिन्न आयोजनों पर दिए वक्तव्यों को संग्रहीत किया गया है। इस खंड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके माध्यम से जोशीजी ने बड़ी ही साफगोई से बिलकुल बातचीत के अंदाज में ही गंभीर, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर बड़े ही सहज और आत्मीय ढंग से विचार किया है। 'जनता के लिए लिखना ही प्रबिद्धता' से उनके इस दृष्टिकोण को सहज ही समझा जा सकता है, जिसमें वे कहते हैं, ''यह सोचकर हैरानी होती है कि आज लेखन के लिए वैसी प्रेरणा क्यों नहीं मिलती। कहानियां आज भी चारों ओर बिखरी पड़ी हैं, लेकिन तेजी से बदलते इस समय का यथार्थ जैसे पकड़ से छूट-छूट जा रहा है। कभी-कभी लगता है कि लिखकर भी क्या होगा। सामाजिक मूल्यों में जो गिरावट आई है, व्यावसायिकता जिस प्रकार हावी होकर कला-साहित्य और संस्कृति को बाजारू, सनसनीखेज और विकृत बनाने पर तुली है, उसका संगठित प्रतिरोध हमने नहीं किया, बल्कि अपनी उदासीनता से उसे बढ़ावा ही दिया है। बाजार के प्रसार से हम आतंकित हैं। हममें नैतिक साहस नहीं कि भोगवाद को नकार सकें।'' संवाद का यह अंश लेखकीय सजगता को सहज ही स्पष्ट कर देता है। पुस्तक का सातवां और अंतिम खंड 'डायरी' के नाम से उद्धृत है। इसके अंतर्गत लेखक ने डायरी विधा का सुंदर नमूना प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'स्मृति में रहें वे' एक श्रेष्ठ लेखक के अंखियों के झरोखों से समाज और साहित्य की विभिन्न समस्याओं और विलुप्त होती हमारी भारतीय सभ्यता और संस्कृति, जिस पर आज भी हम गर्व कर सकते हैं, को देखने और परखने का एक अच्छा माध्यम बन सकता है। शेखर जोशी ने इसे विविधा के रूप में प्रस्तुत कर निश्चित ही एक सराहनीय कार्य किया है। पुस्तक के विभाजन को नए नामों यथा काव्यचित्र, लोकराग आदि से अभिसिंचित कर उसे जीवंतता प्रदान करने की भरपूर कोशिश भी की गई है। अब देखना है कि हिंदी का आलोचना जगत इसे किस रूप में स्वीकार करता है।

स्मृति में रहें वे/शेखर जोशी/संभावना प्रकाशन, रेवतीकुंज, हापुड़, मूल्य : ₹ 395

एसोशिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली, मो. 8826252403

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री–यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी : कुछ यादें, कुछ रचना-प्रसंग

रामनिहाल गुंजन

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का जन्म वर्ष 1930 में भोजपुर जिले के कायमनगर गांव में हुआ था, जो आरा शहर से दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। उनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव में ही हुई थी। उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा आरा मॉडल इंस्टीट्यूट से पास की थी। बाद में उन्होंने हरप्रसाददास जैन महाविद्यालय, आरा से बी. ए. और पटना विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) की पढ़ाई पूरी की। कालांतर में ए.डी. जैन स्कूल में शिक्षक की नौकरी करते हुए पी-एच. डी. करने के लिए सागर विश्वविद्यालय (म. प्र.) के हिंदी विभागाध्यक्ष आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के सान्निध्य में 1960-61 के आसपास वे गए तथा वहां से सौंदर्यशास्त्र पर पी-एच. डी. की डिग्री प्राप्त कर आरा लौटे तथा हरप्रसाद जैन कॉलेज, आरा के हिंदी-विभाग में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त होकर काम करने लगे। इस बीच उन्होंने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में काम करना शुरू किया। उन दिनों के लिखे उनके लेख–'आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि', 'आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के सैद्धांतिक समीक्षार्थ' तथा 'जयशंकर प्रसाद का कला-चिंतन' काफी चर्चित हुए थे। उन्हीं दिनों शिवदानसिंह चौहान द्वारा संपादित 'आलोचना' के स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक (जनवरी, 1964) में उनका एक लेख–'प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और संभावना' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी उन दिनों अर्थात् 1965 के आसपास कहानी पर लिखे अपने एक लेख 'परिवर्तित यथार्थ और नया युगबोध' के कारण चर्चा में थे। यह कहानी पर उनका पहला ही लेख था, जो मार्कंडेय द्वारा संपादित 'माया' पत्रिका के 1965 के नववर्षांक में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में डॉ. तिवारी ने सन् साठ के बाद की हिंदी कहानी को लेकर जो टिप्पणी की थी, वह इस दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि उन्होंने तत्कालीन कहानी की अंतर्धारा और परिवर्तित यथार्थ की गहरी पड़ताल करते हुए लिखा था कि ''साहित्य का यह नया अर्थ सिर्फ कला या साहित्य को ही प्राप्त नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति परिवर्तित जीवन-स्थितियों के बीच हुई है और आज का मनुष्य उसमें एक नया संबंध स्थापित करते हुए ही उसे ग्रहण कर सका है। समकालीन हिंदी कहानी में आधुनिकताबोध के प्रतिफलन की बात इसी अर्थ में विचारणीय है।'' ('माया' का जनवरी, 1965 अंक, पृ. 48)। तिवारीजी ने बाद में चलकर शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध पर अलग-अलग लेख लिखे, किंतु शमशेर और मुक्तिबोध पर लिखे लेख तत्काल अनुपलब्ध हैं। इस बीच यानी 1963-1964 के बीच आरा की साहित्यिक संस्था 'पूर्वांचल' की ओर से प्रकाशित सामयिक बुलेटिन 'दिशा और दृष्टि' की चर्चा तिवारीजी के आलोचना-कर्म के सिलसिले में करना जरूरी है, जिसमें उनके दो महत्त्वपूर्ण लेख–

'आलोचनात्मक व्यवस्था और भावुकता : आधुनिक रचना-दृष्टि के अनिवार्य रुख' तथा 'संवेदनशीलता, जो सृजनशील नहीं है' प्रकाशित हुए थे। इस दृष्टि से देखा जाए तो तिवारीजी के अधिकांश लेख उस समय की पत्र-पत्रिकाओं–'आलोचना', 'समारंभ', 'कथा', 'कथन', 'कलम' में प्रकाशित हुए। जब तिवारीजी ने 1970 के आसपास अपनी पत्रिका 'नाम' का प्रकाशन आरंभ किया तो उसके तीन अंकों में हिंदी कहानी और कविता पर जो उनकी संपादकीय टिप्पणियां–'परिवर्तित मुद्राओं के साथ', 'बीच के लोग', 'एक और अंत : सुखांत', 'एक दर्द अहिंसक है, और दूसरा हिंसक' तथा 'पहचान के दो मुहावरे : गोली दागो पोस्टर' और 'जबरजात'–प्रकाशित हुईं, वे काफी दिनों तक चर्चा में रहीं, कारण कि उनके जरिए तिवारीजी ने हिंदी कहानी और कविता पर बिलकुल नए ढंग से पहली बार विचार किया था, जो छोटी पत्रिका आंदोलन के लिए भी एक नई घटना मानी जाएगी।

इस प्रकार चंद्रभूषण तिवारी को मार्क्सवादी आलोचक के साथ-साथ एक नई वामपंथी चेतना की पत्रिका 'वाम' के संपादक के रूप में जो ख्याति मिली, वह प्रमुखता से रेखांकित करने योग्य है; कारण कि वह समय उनके आलोचना-कर्म का विकास काल के साथ-साथ छोआी पत्रिका आंदोलन का भी उत्कर्ष-काल था। वैसे में वाम के तीन अंकों में प्रकाशित कविताओं, कहानियों और लेखों के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता। 'वाम'-1 में प्रकाशित इसराइल की कहानी 'फर्क' और भैरवप्रसाद गुप्त का वैचारिक लेख 'समाजवादी क्रांति की तैयारियां : राजनीतिक विभ्रम के बीच और बाहर', 'वाम'-2 में इ. एम. एस. नम्बूदिरीपाद का वैचारिक लेख–'प्रगतिशील और साम्यवादी

साहित्य', आलोक धन्वा की कविता 'जनता का आदमी' और ज्ञानरंजन की कहानी 'अनुभव' तथा 'वाम'-3 में प्रकाशित विनायक पुरोहित का वैचारिक लेख–'भारतीय प्रेस–किसका औजार', शेखर जोशी की कहानी 'निर्णायक' तथा असगर वजाहत की कहानी 'केक' और धूमिल, विजेन्द्र और मनमोहन की कविताएं विशेष रूप से चर्चित हुईं। बाद में जब तिवारीजी कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाली जनवादी लेखक संघ की पत्रिका 'कलम' के संपादकीय मंडल से जुड़े, तब वे जनवादी लेखक संघ की बिहार इकाई के सचिव चुने गए थे और उस रूप में भी उनकी सक्रियता जारी रही। उसी समय यानी 1980 के आसपास जब प्रेमचंद जन्म-शताब्दी मनाई जा रही थी, उन्होंने प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर तीन महत्त्वपूर्ण लेख–'प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा और समकालीन कथा-साहित्य', 'यथार्थ के विकसित संदर्भ और प्रेमचंद के उपन्यास' तथा 'प्रेमचंद की कहानियों का कथा-शिल्प और उसके जनवादी उपकरण'–लिखे, जो कई दृष्टियों से यादगार सिद्ध हुए। चूंकि तिवारीजी ने प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर नए सिरे से सोचना और लिखना शुरू किया था और उनकी प्रेमचंद पर एक पुस्तक लिखने की योजना भी थी, इसलिए उक्त तीनों लेखों की रचना उनकी की पूर्वपीठिका के तौर पर की गई थी। इस प्रसंग में यानी प्रेमचंद के कथा-साहित्य को लेकर उनकी कुछ प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार थीं–

1. 'प्रेमचंद के साहित्य में सामान्य जीवन का सामाजिक ढांचा ही विद्यमान है, यह प्रेमचंद के यथार्थ चित्रण की एक बहुत बड़ी विशेषता है।'

2. 'सामान्य जीवन की वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवन-धारा को प्रस्तुत करने के लिए प्रेमचंद ने उनकी विशिष्ट भारतीय इकाई को पकड़ा है। वहीं से वे व्यक्ति पर केंद्रित होते हैं और वहीं से वे समूह की ओर बढ़ते हैं। जीवन-वास्तव को व्यक्त करने की दृष्टि से प्रेमचंद के साहित्य की यह एक आवश्यक धुरी है।'

3. 'प्रेमचंद महज रोचक विषयों के डिटेल्स नहीं देते, वे डिटेल्स देते हैं पूरी जीवन-प्रक्रिया के।'

गौरतलब है कि डॉ. तिवारी एक जनवादी आलोचक के रूप में भी अपना लेखकीय दायित्व आजीवन निभाते रहे। वे जनवादी लेखक संघ से जुड़ने के साथ ही जनवादी साहित्य पर सुचिंतित विचार कर चुके थे। इस प्रसंग में उनकी डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. चंद्रबली सिंह और डॉ. नामवर सिंह से अलग-अलग बातचीत भी हुई थी। उनके द्वारा उपर्युक्त तीनों आलोचकों से लिए गए साक्षात्कार 'कलम' के तीन अंकों में प्रकाशित हुए थे, जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। तिवारीजी की जनवादी साहित्य के बाद में खुद की मान्यता थी, 'जिस विचारधारा से बहुसंख्यक वर्ग के हित जुड़े हुए हों, उस विचारधारा या दृष्टिकोण को हम जनवादी दृष्टिकोण कहेंगे तथा उस दृष्टिकोण के तहत लिखे साहित्य को जनवादी साहित्य।'

डॉ. तिवारी के वर्ष 1993 में निधन के कारण उनके निबंधों का कोई संग्रह उनके जीवन-काल में नहीं प्रकाशित हो सका। बाद में उनके लेखों का एक संग्रह 1998 में 'आलोचना की धार' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसका संपादन प्रख्यात आलोचक डॉ. शिवकुमार मिश्र ने किया। उनहोंने पुस्तक की भूमिका में लिखा है, ''चंद्रभूषण तिवारी हमारे समय के आलोचकों में ऐसे ही कुछ लोगों में एक थे। पेशे से अध्यापक होने के नाते जब, तब उन्होंने उपन्यास, नाटक जैसी विधाओं पर रायजनी की हो या कुछ लिखा हो, वह अलग बात है, आलोचक के रूप में उनकी पहचान सौंदर्यशास्त्र के कुछ मुद्दों पर गंभीर विचार के अलावा मुख्यतः समकालीन कविता और कहानी के समर्थ आलोचक के रूप में ही उभरी और जितना और जब भी उन्होंने रुचिपूर्वक लिखा, उसे व्याख्यायित और विश्लेषित किया।'' चूंकि तिवारीजी मुख्यतः कथा-समीक्षा अथवा कथा-अलोचना से जुड़े थे, अतः उनके कथा-साहित्य पर लिखे लेखों का महत्त्व असंदिग्ध है। 'आलोचना की धार' पुस्तक में संकलित उनके दो लेखों–'समकालीन हिंदी कहानी : भिन्नता के सही धरातल' और 'वास्तविकता के बदलते संदर्भ और हिंदी कहानी के पिछले दो दशक' की चर्चा करना जरूरी है। पहले लेख की रचना तिवारीजी ने बांदा सम्मेलन के अवसर पर पढ़ने के लिए की थी, जिसका पाठ उन्होंने किया था। इस लेख की महत्त्वपूर्ण स्थापना इस प्रकार थी, ''पिछले दशक की रचनाओं के बहुत बड़े हिस्से का यही हश्र है, जो पश्चिम के सांस्कृतिक प्रभाव के अंतर्गत लिखी गई हैं। इस देश के युवा मानस को उसकी खुद की भौतिक वास्तविकताओं से अलग कर बहुत सारे शब्दों से बने धारणात्मक यथार्थ में उलझा देने की यह एक आकर्षक साजिश थी, जिसके गढ़े में प्रायः एक पूरा दशक आश्चर्यजनक रूप से लुढ़का हुआ है। आजादी के बाद हिंदी के युवा लेखकों का एक बहुत बड़ा वर्ग, जो 'कहानी' के माध्यम से (पत्रिका और विधा दोनों) बड़े उत्साह के साथ एक नए सांस्कृतिक आंदोलन की तैयारी कर रहा था, वह बीच ही में क्यों रुक गया, क्या उसे बीच ही में रोक दिया गया?'' इस कथन के आलोक में यदि उस दौर की रचनाओं को देखा जाए तो स्थिति बिलकुल साफ हो जाएगी। इतना जरूर है कि तिवारीजी ने अपनी सुचिंतित स्थापनाओं के जरिए हिंदी कथा-समीक्षा के क्षेत्र में अपनी एक खास जगह बना ली थी। उनके दूसरे लेख की इस स्थापना से अवगत हुआ जा सकता है कि ''रचनाकार जिस वस्तु-यथार्थ को रचना का विषय बनाता है, उसका व्यापक संदर्भ क्या है अर्थात वह उसके किसी कटे-छंटे अंश तक ही सीमित है अथवा समकालीन जीवन संदर्भों से या किसी व्यापक प्रसंग से भी वह परिचालित है और इस सवाल के साथ जब हम उस समय की लिखी गई वैसी बहुसंख्यक रचनाओं को देखते हैं, जिनका यथार्थ किसी क्षेत्रीय परिवेश से संबद्ध है तो आज जबकि उनके तात्कालिक प्रभाव से हम काफी अलग हो गए हैं, वह सारा-का-सारा रचना-व्यापार और उसके अंतर्गत प्रस्तुत वे बहुत सारी कहानियां, जो गांव या कस्बे की कहानियों के रूप में विज्ञापित होकर हमारे सामने आई हैं, महज इसलिए कि उनमें गांव या कस्बे के स्फुट दृश्य हैं, मूल्यवान नहीं हो जातीं।''

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. चंद्रभूषण तिवारी के उपरोक्त मंतव्य हिंदी कहानी के पिछले दशक को समझने में सहायक हैं ही, साथ ही, उनसे आज की हिंदी कहानी के अंतर्विरोधों को समझने में भी मदद मिल सकती है। इस दृष्टि से तिवारीजी के संपूर्ण आलोचना-साहित्य का मूल्यांकन जरूरी है।

नया शीतल टोला, आरा-802301 (बिहार)

रेत : कभी रेगे-रवां से प्यास बुझ जाती है रहरौ की

भगवानदास मोरवाल

गाजूकी। यह नाम मैंने पहली बार 1975 के दौरान, जब कभी मैं अलवर (राजस्थान) जाता, सुनता था। बाद में इसकी चर्चा प्रायः अलवर से ही उन दिनों शुरू हुए दैनिक समाचार-पत्र 'अरुणप्रभा', जो आज तक निरंतर प्रकाशित हो रहा है, में छपी खबरों के माध्यम से सुनता रहा। गाजूकी की चर्चा कभी-कभार इस समाचारपत्र से संबद्ध उन दिनों के युवा तुर्क पत्रकार ईशमधु तलवार, बलवंत चौधरी (अब बलवंत तक्षक तथा इन दिनों चंडीगढ़ में रहते हैं) और अन्य पत्रकार साथियों से 'अरुणप्रभा' के कार्यालय में सुनता था। गाजूकी के प्रति असली रोमांच और जिज्ञासा पुलिस द्वारा गाजूकी में यौनकर्म में संलिप्त कंजर समुदाय की युवतियों की तथाकथित गिरफ्तारी की खबरों को पढ़कर हुई। बाद में यह जिज्ञासा इस तथ्य को सुनकर और बढ़ने लगी कि केवल गाजूकी में ही नहीं अपितु आसपास के अन्य कई गांवों कलसाड़ा, लावा का बास, चावला का बास, कलगांव, अल्लाहपुर, पठैपुर व उल्हाड़ी में भी इस समुदाय की युवतियां यौनकर्म में संलिप्त हैं। दरअसल, मेरी जिज्ञासा इतना यौनकर्म में संलिप्त युवतियों में नहीं थी, जितनी इस 'गाजूकी' शब्द के प्रति थी, क्योंकि बाद में पता चला कि गाजूकी नाम की अकेली कोई रिहायशी बस्ती का ही नाम नहीं है, अपितु इस नाम की यहां दो जगह और हैं—एक गाजूकी नदी और दूसरा गाजूकी पुल।

लेकिन यह रोमांच और जिज्ञासा उस दिन औंधे मुंह गिरी, जिस दिन पहली बार इस गाजूकी पुल से राजस्थान परिवहन निगम की बस दनदनाती हुई गुजर गई, परंतु दूर-दूर तक नदी जैसी कोई चीज दिखाई नहीं दी। मेरे मन में नदी का जो चित्र अंकित था, वैसा मुझे कुछ नजर नहीं आया। न कहीं पानी, न उफनती लहरें। वास्तव में गाजूकी एक बरसाती नदी है, जो चौमासे में अरावली की पहाड़ियों से उतरे पानी से भर जाती होगी। हालांकि अब चौमासे न रहने से इसमें धूल उड़ाती छोटी-छोटी रेतीली घाटियां हैं, जिन्हें मन बहलाने के लिए छोटे-छोटे बीहड़ कह सकते हैं।

यह इसी गाजूकी शब्द के प्रति उपजा रोमांच और जिज्ञासा थी, जिसकी परिणति लगभग 24 वर्ष पूर्व अर्थात् 19 जुलाई, 1987 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के अंक में प्रकाशित एक पृष्ठीय कहानी 'लिलहार' के रूप में हुई। यह कहानी तब 'अरूणप्रभा' और दूसरे स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचारों के आधार पर लिखी गई थी, उस दौर में लिखी गईं अन्य कहानियों की तरह, जो कहानियां कम, एकदम अभावों से ग्रस्त और साहित्यिक दृष्टि से एकदम बंजर मेवात जैसे क्षेत्र से उखड़े उस बेरोजगार गंवई की अभिव्यक्ति अधिक थी, जिसके लिए कथा- लेखन के लिए तय किए गए कथा विधानों का कोई मतलब नहीं था। इसीलिए यह कहानी मेरी दूसरी तथाकथित कहानियों की तरह एक कहानी-संग्रह 'सूर्यास्त से पहले' में शोध सामग्री के रूप में दफ़न हो गई।

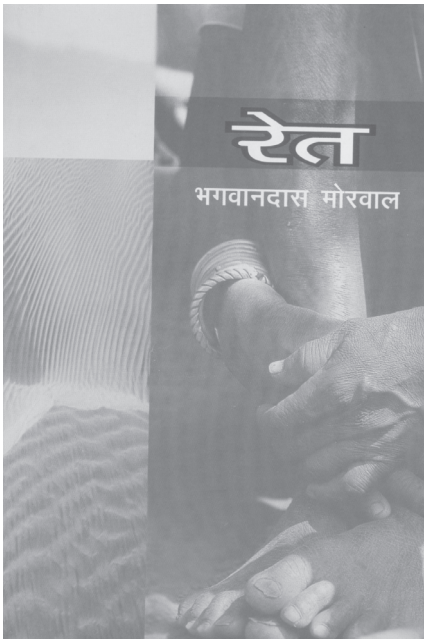

मेवात की पृष्ठभूमि को केंद्र में रखकर लिखे गए पहले उपन्यास 'काला पहाड़' (1999) और दूसरे उपन्यास 'बाबल तेरा देस में' (2004) की व्यापक तथा आत्मीय पाठकीय स्वीकृति ने भले ही एक कथाकार के रूप में मुझे पहचान दिला दी, परंतु साथ ही एक मुश्किल-भरी चुनौती और डर भी मेरे भीतर पैदा कर दिया कि अब किस पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखोगे बच्चू। स्मृतियों और लोकानुभवों की पिटारी में जितना माल-मत्ता था, वह तो इन दोनों उपन्यासों में पहले ही खर्च हो गया था, पाठकों को अब क्या दिया जाए? मेरे सामने एक अहम सवाल था। इसी दौरान इन दोनों उपन्यासों और मेवात-प्रेम के चलते अलवर आना-जाना लगा रहा, तथा जब-जब राजस्थान परिवहन निगम की बस गाजूकी पुल के ऊपर से तेजी के साथ गुजरती, तब-तब अंतर्मन में गाजूकी की अदृश्य लहरें उठतीं। इसी बीच मैंने अपने मित्र और मेवाती साहित्य-संस्कृति के ठेठ मर्मज्ञ कॉमरेड मुंशीखां, बल्कि कहिए यूनानी पद्धति के डॉक्टर मुंशी खां और मज़दूर-किसानों के बीच खासा दखल रखने वाले इस सामाजिक कार्यकर्ता से इच्छा जताई कि मेरी इच्छा गाजूकी के कंजर समुदाय पर कुछ उपन्यास-जैसा काम करने की है, परंतु समस्या यह है कि उनसे संपर्क कैसे साधा जाए। डॉ. मुंशी खां ने इस समुदाय के

एक व्यक्ति ताराचंद का नाम व टेलीफोन नंबर बताया। उनहोंने बताया कि कभी-कभी ताराचंद यौन संबंधी रोगों से ग्रस्त यौनकर्मियों के लिए दवा-दारू लेने आता है। मैंने जब ताराचंद से संपर्क किया तो पहले वह मुझे टरकाता रहा और अंततः एक वर्ष के बाद उसने किसी तरह का सहयोग देने से स्पष्ट मना कर दिया, मगर ताराचंद के मना करने के बावजूद थोड़ा निराश मैं अवश्य हुआ, पर हार नहीं मानी।

कुछ दिनों के बाद मैं डॉ. मुंशी खां के पास गया और फिर से वही गाजूकी पुराण छेड़ा, तो उन्होंने राहुल मिश्रा का नाम बताया। साथ में उन्होंने यह भी बताया कि राहुल मिश्रा ने इस क्षेत्र में यौनकर्म से जुड़ी महिलाओं पर किसी एन.जी.ओ. के लिए काम किया है। मुंशी खां मुझे साथ लेकर राहुल मिश्रा के पास पहुंच गए। मुंशी खां ने मेरा परिचय जिस राहुल मिश्रा नामक व्यक्ति से कराया, उसे देखकर थोड़ी देर के लिए मैं निराश और रुआंसा हो गया कि रूखा-सा नजर आने वाला यह व्यक्ति भला इन स्त्रियों पर क्या काम कर सकता है, मगर थोड़ी देर बाद राहुल मिश्रा ने जब यह जानकारी दी कि मैंने और नीतू भाभी ने इस क्षेत्र की महिला यौन कर्मियों पर जर्मनी के एक अंतरराष्ट्रीय एन. जी.ओ. तेरेदेस होम्स (Terredes Hommes) के लिए काम किया है, तब मैं अपनी समझ पर मन-ही-मन काफी शर्मिंदा हुआ। राहुल मिश्रा ने उसी समय नीतू भाभी (श्रीमती नीतू शर्मा) से मोबाइल से संपर्क किया। नीतू शर्मा घंटे भर के भीतर हमारे सामने उपस्थित थीं, बाद में पता चला कि श्रीमती नीतू शर्मा मेरे पुराने जानकार तथा लेखक व पत्रकार सुरेश पंडित के भाई की पुत्रवधू हैं।

इस तरह लगभग दो घंटे की बातचीत के दौरान कंजर समुदाय के सामाजिक परिवेश के बारे में जो जानकारियां मिलीं, उसने उपन्यास लिखने का मेरा रास्ता प्रशस्त कर दिया। जैसा कि प्रायः मेरे साथ होता है, मैं अपने उपन्यास का शीर्षक पहले ही तय कर लेता हूं। इसका भी शीर्षक 'रेत' मैंने पहले तय कर लिया। 'रेत' अर्थात् जिसकी कोई अस्मिता और अस्तित्व न हो। इस तरह मेरा प्रायः राहुल मिश्रा और डॉ. मुंशी खां के पास आने-जाने का सिलसिला तेज हो गया। कभी

धक्के खाते हुए राजस्थान परिवहन निगम की बसों के द्वारा, तो कभी हरियाणा रोडवेज की बसों के द्वारा। कभी-कभी रेल से भी आना-जाना बना रहता।

इसी दौरान एक बार हम दोनों बखतल की चौकी स्थित डॉ. मुंशी खां के क्लिनिक पर दोपहर में इसी बारे में चर्चा कर ही रहे थे कि वहां तभी एक बुजुर्ग व्यक्ति आए। चौधरी रहमान खां नाम के उस बुजुर्ग से परिचय कराते हुए मुंशी खां ने बताया कि चौधरी रहमान खां चावला का बास में रहते हैं। बातों-बातों में चौधरी रहमान खां ने भी कुछ रोचक जानकारियां देते हुए सुझाव दिया कि शाम को मैं चावला का बास ही आ जाऊं ताकि नज़दीक से कंजर समुदाय को देखा भी जा सके और उनसे बातचीत भी हो सके। शाम को मैं चावला का बास गया और रात को वहीं ठहरा, अगले दिन मुंशी खां लेने के लिए आए तो उन्होंने ऐसे ही पूछ लिया कि कुछ दिन पहले चावला का बास में सुशीला के पास जो भूरा फरारी आया था, उसके क्या हाल हैं? इस पर चौधरी रहमान खां के एक लड़के ने बताया कि उसकी तो डेढ़ साल पहले मौत हो चुकी है और बास के बाहर उसकी मज़ार भी है।

मज़ार का नाम सुनते ही मुंशी खां थोड़े हैरान हुए और हँसते हुए बोले कि भूरा कोई पीर-पैगंबर है, जो उसकी मज़ार बनी हुई है। वापसी में हम दोनों मज़ार की ओर से लौटने लगे तो पाया सचमुच एक जगह पर कब्र के बजाय एक नई-नई मज़ार बनी हुई है, जिसकी तुरबत पर हरी चादर पड़ी हुई है। चादर के आसपास अगरबत्तियों के अधजले डंठल और उनकी राख बिखरी पड़ी है। चावला का बास से पहले कंजर समुदाय की एक और छोटी बस्ती से लौटते हुए एक अद्‌भुत दृश्य देखने को मिला। दृश्य यह था कि एक कमरे के आगे बने चबूतरे पर जींस व टॉप पहने लगभग डेढ़ दर्जन किशोरियों और युवतियों की भीड़ लगी हुई थी, जिन्हें देखकर नहीं कहा जा सकता था कि ये इस समुदाय से संबंध रखती हैं। पूछने पर मुंशी खां ने बताया कि ये सारी लड़कियां मुंबई और गोआ से आई हुई हैं। ये सब वहां बारों में नृत्य करने वाली बार गर्ल्स हैं और चूंकि वहां की सरकारों ने बार-गर्ल्स पर प्रतिबंध लगा दिया है, इसलिए ये सब यहां आई हुई हैं।

चौधरी रहमान खां के यहां रुकने पर इस समुदाय को नज़दीक से देखने का मौका जरूर मिला, परंतु इस समुदाय की स्त्रियों की पारिवारिक, सामाजिक और सामुदायिक भूमिका के बारे में मैं जैसी जानकारी या तथ्य प्राप्त करना चाह रहा था, वह नहीं मिल पा रही थी। यह एक बड़ी चुनौती और मुश्किल भरा काम था। एक हद तक जोखिम भरा भी, अंततः राहुल मिश्रा की पहल पर इस मुश्किल से श्रीमती नीतू शर्मा ने उबारने का जिम्मा लिया, मगर इस शर्त पर कि वे मुझे इस समुदाय के बीच ले तो जाएंगी, पर मैं कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करूंगा। नीतू शर्मा एक एन.जी.ओ. से जुड़ी हुई थी तथा उसके काम के लिए उनका प्रायः इस समुदाय के बीच आना-जाना लगा रहता था। श्रीमती नीतू शर्मा ने यह शर्त इसलिए लगाई थी कि उस समुदाय की स्त्रियों को यह न पता चले कि मेरा इनके बीच आने का मकसद क्या है? अगर उन्हें पता चल गया तो नीतू शर्मा के लिए परेशानी खड़ी हो जाएगी। इस तरह नीतू शर्मा मुझे इस समुदाय के एक गांव कलसाड़ा लेकर गईं। उसी कलसाड़ा में, जिसके एक भवन को मैंने कमला सदन का नाम दिया है, यहीं मैंने संतो भाभी के रूप में एक विवाहिता को देखा, तो साथ में उन बुआओं के उस जीवन को भी, जिसे देखकर उस समुदाय की ज्यादातर बच्चियां बड़ी होकर 'बुआ' बनना अधिक पसंद करती हैं।

'रेत' में एक पात्र है—घनश्याम 'कृष्ण' उर्फ़ वैद्यजी। इस पात्र में ज्यादातर मित्रों और पाठकों को लेखक का अक्स दिखाई देता है, बल्कि कहा गया है कि वैद्यजी और कोई नहीं स्वयं लेखक है। इसका उत्तर यदि मैं दूं तो कह सकता हूं कि मैं वैद्यजी हूं भी और नहीं भी। दरअसल, उन महत्त्वपूर्ण जानकारियों में मित्र राहुल मिश्रा ने जो जानकारियां दी थीं,

उनमें यह एक वैद्यजी प्रसंग भी है। वास्तव में वैद्यजी एक ब्राह्मण थे, जिन्हें पंडितजी कहा जाता था। पंडितजी की इस समुदाय की एक उम्रदराज बुआ के प्रति आसक्ति थी। बुआ भी इस बात से परिचित थी। राहुल मिश्रा ने पंडितजी की जो छवि निर्मित की, उसने मुझे उनसे मिलने के लिए बेचैन कर दिया। एक दिन श्रीमती नीतू शर्मा मुझे अलवर से लगभग चालीस किलोमीटर दूर पंडितजी के घर थानागाजी ले गईं। लगभग पूरे दिन रहे हम पंडितजी के घर। खाना भी यहीं खाया।

पंडितजी को एक पात्र के रूप में ढालना सचमुच एक दुष्कर कार्य था कि एक पचपन-छप्पन वर्षीय व्यक्ति, विशेषकर एक ब्राह्मण को कैसे व किस पात्र के रूप में प्रस्तुत करूं। अगर इसे इसकी वास्तविक उम्र के हिसाब से पात्र बनाता, तो उसकी भूमिका वह नहीं रहती, जैसी बाद में बनी। बहुत माथापच्ची के बाद अंततः पंडितजी एक पैंतीस-चालीस वर्षीय पात्र के रूप में विकसित हुए, जो उपन्यास में सूत्रधार की भूमिका भी निभाता है। सच तो यह है कि वैद्यजी के रूप में मैं एक ऐसा पात्र रचना चाहता था, जिसके बारे में यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि–

> कभी रेगे-रवां से प्यास बुझ जाती है रहरौ की।
> कभी दरिया के हाथों तश्नगी तकसीम होती है॥
> मेरी नज़र में एक पात्र के रूप में वैद्यजी ऐसे ही पात्र हैं।

दरअसल, कुछ पात्र लेखक की पकड़ से दूर रहते हैं, इसलिए कई बार ऐसा होता है कि लेखक जिस पात्र को जैसा ढालना चाहता है, वह लेखक की मर्जी से नहीं, बल्कि अपनी मर्जी और रचना की मांग के अनुरूप ढलता चला जाता है। वैद्यजी भी मेरी इच्छानुसार नहीं, बल्कि अपनी मर्जी से अपनी भूमिका निभाता है। हालांकि रुक्मिणी के प्रति वैद्यजी की आसक्ति वैसी ही है, जैसी पंडितजी की एक उमदराज़ खिलावड़ी के प्रति अपने वास्तविक जीवन में थी अर्थात् उपन्यास में रुक्मिणी-वैद्यजी का प्रेम कभी दैहिक प्रेम नहीं रहा। इसलिए ज्यादातर पाठकों की यह राय एक हद तक वाजिब ही है कि 'रेत' एक ऐसे समुदाय को केंद्र में रखकर लिखा उपन्यास है, जिस समुदाय की स्त्रियां यौनकर्म में संलिप्त

हैं, परंतु बावजूद इसके इसमें एक भी यौन-दृश्य नहीं है।

'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सॉलिट्यूड' जैसे नोबेल पुरस्कार प्राप्त मशहूर उपन्यास के लेखक गार्सिया गैब्रियल मार्ख्वेज़ ने अपने 'पुस्तक के लेखक का दुर्भाग्य' शीर्षक से लिखे एक लेख में एक जगह लिखा है, 'पुस्तक लिखना अपने आपमें एक आत्मघाती कर्म है। ऐसा और कोई कर्म नहीं है, जो इतनी ज्यादा मेहनत, इतनी ज्यादा एकाग्रता की मांग करता हो, जबकि इसके बदले लेखक को तात्कालिक तौर पर कोई लाभ नहीं होता, मगर प्रश्न उठता है कि जब लेखन के साथ इस कदर दुर्भाग्य जुड़ा है, तब लेखक आखिर लिखता क्यों है, इसका उत्तर यह है कि एक आदमी उसी तरह से लेखक होता है, जिस तरह से कोई आदमी अश्वेत या यहूदी होता है। सफलता से प्रोत्साहन मिलता है, पाठकों के प्यार से संतोष मिलता है, जो एक तरह का अतिरिक्त लाभ है, क्योंकि एक अच्छा लेखक तो वैसे भी लिखता रहेगा, चाहे उसके जूते मरम्मत की मांग कर रहे हों तथा उसकी किताबें बिक नहीं रही हों।' मार्ख्वेज ने सही कहा है कि सृजन अपने आप में एक आत्मघाती कर्म है। इसका आभास 30 दिसंबर, 2008 की सायं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा आयोजित 'श्रुति' कार्यक्रम के अंतर्गत मेरे रचना-पाठ के बाद हुआ, जब एक मित्र ने बताया कि पिछले माह कन्नौज (उत्तर प्रदेश) के छिबरामऊ नगर के गिहार समुदाय ने 'रेत' को अपने समाज की स्त्रियों का अपमान बताते हुए, इसको सार्वजनिक रूप से फांसी देते हुए जलाया है। बाद में छिबरामऊ की स्थानीय अदालत में लेखक के विरुद्ध आई. पी.सी. की धारा 500 के तहत मानहानि का मुकदमा भी दर्ज करा दिया गया है। विदित हो कि इस धारा के अंतर्गत दर्ज मुकदमा गैर-जमानती होता है। यह मुकदमा आज भी चल रहा है और मेरी ओर से मेरे वकील मुकदमे की पैरवी कर रहे हैं। हालांकि मैंने भविष्य में भी अप्रिय घटना की आशंका से बचने की गरज से 27 फरवरी, 2009 को अपने क्षेत्र के स्थानीय पुलिस स्टेशन को इसकी सूचना दी हुई है।

जैसा कि अपने पूर्व के दोनों उपन्यास 'काला पहाड़', 'बाबल तेरा देस में' के शीर्षकों की तरह 'रेत' शीर्षक भी मैंने पहले से तय कर लिया था और अपने चौथे उपन्यास का शीर्षक अर्थात् 'नरक मसीहा' भी। मेरा अपना मानना है कि शीर्षक के आधार पर उपन्यास की रचना का मार्ग एक हद तक प्रशस्त हो जाता है, क्योंकि शीर्षक में ही रचना का कथ्य छिपा होता है। वस्तुतः शीर्षक को मैं किसी भी रचना के मुकुट के रूप में देखता हूं। 'रेत' शीर्षक के चयन की भी अपनी एक कहानी है। दरअसल, कुछ वर्ष पहले विवाह संबंधी एक लेख के सिलसिले में मराठी के चिंतक और इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े की 'भारतीय विवाह संस्था का इतिहास' नामक पुस्तक पढ़ते हुए, एक जगह अश्वमेध यज्ञ के बारे में बार-बार रेत शब्द का उल्लेख होता देख, इस शब्द के समांतर शब्द और अर्थ जानने की जिज्ञासा हुई। मैंने जब हिंदी व संस्कृत के शब्दकोशों में इसकी उत्पत्ति व अर्थ ढूंढ़ा, तो पाया रेत मूलतः संस्कृत का शब्द है–रेतः अथवा रेतस् है, जिसका अर्थ है बीज, शुक्राणु या कहिए वीर्य। हालांकि 'रेत' शीर्षक अनेक अर्थ छवियों को निरूपित करता है, जिनमें से एक है कंजर यानी काननचर अर्थात् जंगल-जंगल घूमने वाला ऐसा समुदाय, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है–ठीक रेत की तरह।' मगर रेत के दूसरे अर्थों ने भी उपन्यास की अर्थवत्ता को ओर व्यापक बना दिया–इतना व्यापक कि हाल में इसके उर्दू अनुवाद के माध्यम से उर्दू जगत में इस उपन्यास की अच्छी-खासी चर्चा हो रही है। वैसे मेरे जानते 'रेत' उपन्यास का यह नेपथ्य ही नहीं, इस उपन्यास की संकल्पना का सच भी यही है।

WZ-745G, दादा देव रोड, नज़दीक बाटा चौक, पालम, नई दिल्ली-110045, मो. 09971817173,
E-mail : bdmorwal@gmail.com

नुक्कड़ नाटक की नटकही

मनोज मोहन

'नुक्कड़ पर नाटक' नुक्कड़ नाटक के इतिहास और वर्तमान स्थिति की समीक्षा करता सत्रह लेखों का संग्रह है। नुक्कड़ नाटक पर काम तो काफी हुआ है और जनता की हिस्सेदारी और स्वीकृति ने इसे एक स्वतंत्र विधा की पहचान दी है। एक समय में इस विधा से जुड़े तमाम लोगों को एक-दूसरे के निकट लाने, नुक्कड़ नाट्य गतिविधियों की नियमित जानकारी लेने-देने और इसकी संभावनाओं पर नियमित बहस चलाने के उद्देश्य से एक पत्रिका निकालने की इच्छा भागलपुर की संस्था 'दिशा' ने की थी, लेकिन वह प्रयास असफल रहा और बाद में जब संस्कृति मंच की भागलपुर की इकाई की ओर से नुक्कड़ नाटक पर दो पुस्तिकाएं जारी की गईं, जिसमें पहला 'नाटक से नुक्कड़ नाटक तक' तथा दूसरा 'मोरचा लगाता नाटक' था। इन्हीं दोनों पुस्तिकाओं को एक जगह संग्रहीत करते हुए 'नुक्कड़ पर नाटक' पुस्तक को संभव बनाया गया।

हिंदी नाटक में नुक्कड़ नाटक के इतिहास में जाएं तो हमें लोक-शैली में प्रस्तुत भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' तक जाना होगा, वहां नुक्कड़ नाटक के बीज हमें मिलते हैं। 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' के लिखने-खेलने के समय हम एक पराधीन राष्ट्र के नागरिक थे। उस समय इन दोनों नाटकों ने अंग्रेजों के ख़िलाफ़ एक वातावरण निर्मित किया था, लेकिन वर्तमान समय में नुक्कड़ नाटक को जिस तरह देखा-समझा जाता है, उसकी शुरुआत 1974 के छात्र-आंदोलन से होती है। ये वर्ष भी राजनीतिक रूप से सक्रियता भरे वर्ष थे। वैसे भी नुक्कड़ नाटक को 'थर्ड थियेटर' या 'थर्ड वेब' के नाम से जाना जाता है। 1974 के आसपास का समय हिंदी नाटक और रंगमंच का उत्कर्ष काल था। उसी दौरान नुक्कड़ नाटक ने एक स्वतंत्र विधा के रूप में अपनी अलग पहचान बनाई थी। लोग प्रेक्षागृह के बदले नाटक देखने नुक्कड़ पर उतर आए थे और नाटक एक नया रूप धरकर नुक्कड़ नाटक के रूप में जनता को सचेत करने, प्रशिक्षित करने और उन्हें सक्रियता प्रदान करने नुक्कड़ों पर उतर आया था।

नुक्कड़ नाटक : क्या? क्यों? आलेख में उदय कहते हैं कि नुक्कड़ नाटक से मिलता-जुलता शब्द 'स्ट्रीट कार्नर थियेटर' की ब्रेष्ट ने चर्चा की है। इसी लेख में वे आगे कहते हैं 'नुक्कड़ नाटक का नाम शिल्प, कथ्य की दृष्टि से भी उचित ठहरता है, क्योंकि नुक्कड़ नाटक में मुख्य रूप से आम लोगों की जिंदगी की तस्वीर मिलती है, जो चौराहे, नुक्कड़ों पर आसानी से देखी जा सकती है। आम जन-जीवन तथा यथार्थ से सीधे जुड़े होने के कारण नुक्कड़ नाटक मूल रूप से न सुखांत, न दुखांत, बल्कि समस्या नाटक है, जिसकी यह आवश्यक शर्त है कि वह दर्शकों को सोचने के लिए बाध्य करे।'

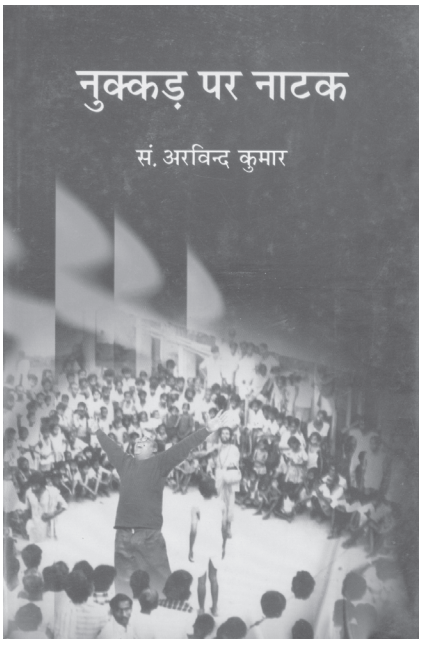

दर्शक रंगमंच के करीब आएं या रंगमंच दर्शक के करीब जाए? इस प्रश्न पर रविभूषण ने अपने आलेख 'वास्तविक नायक की भूमिका में दर्शक' में विचार किया है। हमारे रंगमंच में, शहरी रंगमंच में दर्शक को वह दर्जा प्राप्त नहीं है, जो उसे होना चाहिए। यहां अभिनेता विशिष्ट है। दर्शकों से उसका कोई संबंध या भाईचारा तक नहीं है, पर हम जिसे देहाती रंगमंच कहते हैं, वहां दर्शकों का अभिनेता से साक्षात् तथा जीवंत परिचय है। गांव में रामलीला, नौटंकी तथा स्वांग की मंडलियों में काम करने वाले अभिनेता शेष समय में ग्रामीण जनों से जुड़े होते थे, न कि अपने-अपने तंबुओं में क़ैद। अभिनेताओं और दर्शकों के बीच जब तक गहरा तादात्म्य नहीं होगा, नाटक और रंगमंच का विकास भी कठिन है। डॉ. रविभूषण की चिंता वाजिब है। बिना दर्शक के रंगमंच का कोई भी रूप सफल नहीं हो सकता।

अनिल सिन्हा अपने आलेख 'नुक्कड़ नाटक : दायित्व और संभावनाएं' में कहते हैं कि 1974 के बाद अब तक हज़ारों नुक्कड़ नाटक रचे गए। विषय की दृष्टि से इनमें भूख, गरीबी, जमींदारों द्वारा किसान-मजदूरों का शोषण, मिल-मालिकों द्वारा मजदूरों का शोषण, राजसत्ता द्वारा आम जनता का शोषण, पुलिस प्रशासन द्वारा हिंसा-भ्रष्टाचार के विभिन्न रूप, कुशिक्षा, दहेज-दानव,

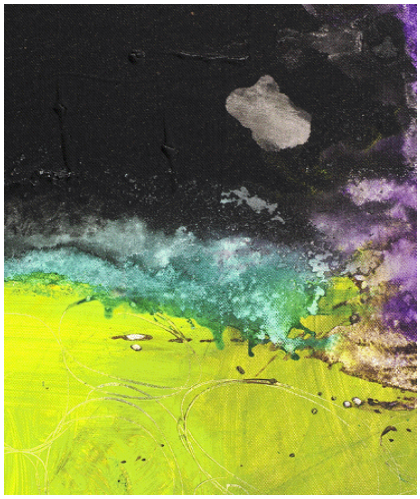

सांप्रदायिकता, बेरोजगारी आदि सैकड़ों विषय हैं, जो समाज को मनुष्यताविहीन स्थितियों में ले जा रहे हैं। ये सारी समस्याएं आज हमारे देश और समाज में परिव्याप्त हैं, लेकिन नीलाभ अपने लेख में ठीक ही कहते हैं कि नुक्कड़ नाटक शुरुआती दौर में किसी हद तक पश्चिमी प्रेरणा से प्रेरित था। बट्रोल्ट ब्रेष्ट और ग्रोटोव्स्की के विचारों ने और पश्चिम के स्ट्रीट थियेटर के आंदोलन ने हमारे नुक्कड़ नाटकों के विकास में अपनी भूमिका अदा की।

पुस्तक में शामिल सभी लेख महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन लेखकों के ख़ास नजरिए से जुड़े होने के कारण गहरी विश्लेषणात्मक दृष्टि की कमी भी साफ झलकती है। इस पुस्तक के सभी लेखक कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी वाम विचारधारा से प्रभावित रहे हैं। इस कारण नुक्कड़ नाटक के संबंध में एक जनतांत्रिक वैचारिक मतैक्य का अभाव यहां साफ़ तौर पर दिखाई देता है। नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में कड़ी का काम करने वालों का कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए और यह काम यह पुस्तक बखूबी करती है और इसके लिए संपादक बधाई का पात्र है। हां, प्रूफ की गलतियां हैं, इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए था।

नुक्कड़ पर नाटक/संपा. अरविन्द कुमार, अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002, मूल्य : ₹ 150 (सजिल्द), ₹ 75 (अजिल्द)

एल.पी.-62/डी. पीतम्पुरा, दिल्ली-110088 दूरभाष : 011-27315368, मो. 9868664457

स्त्री-लेखन : कृष्णपक्ष बनाम शुक्लपक्ष

प्रवीण कुमार

स्त्रीपक्ष का अनुभव ही नहीं, लेखन भी अपने आरंभिक चरणों से परिपक्व रहा है, यह बात थोड़े-बहुत विरोध के बावजूद हिंदी आलोचना को स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ऐसा इसलिए भी हुआ कि अनुभव की विराट संपदा में गहरी भावुकता के होते हुए आरंभिक स्त्री-लेखन में भाषा का तोतलापन और अनकहा-सा नहीं रहा, वरन् वह ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में उभरा। खतरे के समय में 'संस्कृति का रचनात्मक स्मरण' वाली बात तो सभी जानते हैं, परंतु आंदोलन के समय में संदर्भित साक्ष्य न केवल आंदोलन की गति तेज़ करते हैं, बल्कि नई दिशाओं की खोज में निर्णायक हस्तक्षेप भी करते हैं। यह बात तब और सटीक होती गई, जब न केवल स्त्री-लेखन के प्रमाणों की संख्या में वृद्धि हुई, बल्कि भारतीय नारीवादी आंदोलन ने आक्रामक ढंग से स्त्री-लेखन और साहित्य के प्रमाणों का युग-सापेक्ष पाठ 'अपनी' कसौटी पर कसने का आग्रह किया। उनके 'पाठ' के बचे वृत्त में नए संदर्भों की तलाश और पुराने संदर्भों से छूटने की छटपटाहट ने साहित्य की स्थापित कई मान्यताओं में दरार डाल दीं। ये दरारें अब सभी को नजर आएं, यही आग्रह है समकालीन स्त्री-लेखन में। ऐसे में तुलसीदास एवं जायसी से लेकर टैगोर, शरतचंद, श्रद्धाराम फुल्लौरी, पं. गौरीदत्त, प्रेमचंद, जैनेंद्र और अज्ञेय जैसे धुरंधरों पर गलत खरोंचें पड़ीं।...

रोहिणी अग्रवाल की नई किताब 'स्त्री-लेखन : स्वप्न और संकल्प' की भूमिका में यह बात पूरी जिम्मेवारी से कही गई है कि "पाठ की इस प्रक्रिया में मैंने जाना कि स्त्री-विमर्श का अर्थ स्त्री के पक्ष में खड़े होकर लैंगिक विभाजन को मजबूत करना नहीं है, लैंगिक विभाजन से आक्रांत मनुष्य की मुक्ति की साझा लड़ाई है—सृजन की महागाथा" साथ ही यह बात भी "इतिहास में पीछे लौटे बिना क्या पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विद्रूपों को भली-भांति समझा जा सकता है?" दरअसल इन्हीं दो आलोचकीय दृष्टिकोणों के भीतर यह किताब पाठ की प्रक्रिया को पूरी करती है और आलोचकीय दृष्टि 'नार्थ पोल' से 'साउथ पोल' की ओर 'शिफ़्ट' हो जाती है। हिंदी आलोचना ने मीरा को 'गिरधर गोपाल' से उठाया तो रोहिणी अग्रवाल ने, "जो कोई मोको एक कहोंगे, एक को लाख़ कहोंगी" पर बल दिया। इस तरह मीरा के संदर्भ में अब तक की चली आ रही आलोचकीय दृष्टि को तोड़ने का प्रयास है कि लौकिक जीवन का निषेध कर अलौकिक सत्ता से जुड़ने का आग्रह नहीं है, बल्कि मीरा

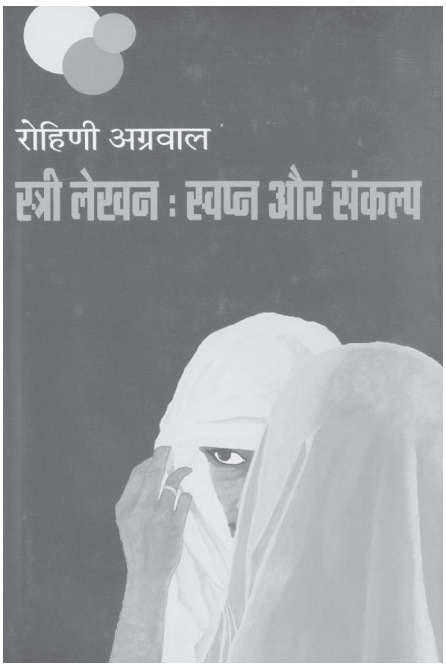

के पद पुरुष दृष्टि की चौकसी और दबाव से मुक्त होकर और ''आध्यात्मिक कुहासे से मुक्त होकर जीवन के राग और ठाट-बाट के साथ ऐंद्रियता के उद्दाम का संस्पर्श करती है। घनघोर लौकिकता के बीच घोर श्रृंगारिकता का बाना है।'' यहां मीरा को जीवनोल्लास, मोहभंग और समर्पण के तीन तने हुए छोरों पर छटपटाते हुए देखा गया है, जिसे हिंदी आलोचना ने अब तक नहीं देखा। स्त्री-विमश्र को 'मोनोटोनस' मुहावरे से अलग करके ''स्त्री पक्ष के क्रोध की वास्तविक परिस्थिति की शिनाख़्त'' के क्रम में ही बात भक्तिकाल से आगे बढ़कर भारतीय नवजागरण तक आती है, जहां खुला आरोप है कि ''भारतीय नवजागरण आंदोलन अपने मूल चरित्र में सेकुलर नहीं है।'' नवजागरण साहित्य में उद्बोधन, कर्तव्यपरायणता, उपदेश और धिक्कार के स्वरों में स्त्री-छवि गढ़ने की सोद्देश्यता की पहचान कर राममोहन राय, विद्यासागर और दयानंद सरस्वती से वैचारिक लड़ाई इसी 'क्रोध' के आधार पर है कि ''ताराबाई शिंदे, पंडिता रमाबाई, अज्ञात हिंदू महिला तथा दुखिनीबाला इन चार विधवाओं के लेखन से गुजरकर एक हैरतअंगेज तथ्य सामने आता है कि हिंदी और हिंदीत्तर भाषाओं का पुरुष समाज इन विधवाओं की आत्माभिव्यक्ति, सवालों, धर्म और शास्त्र की पुनर्व्याख्या, हक की लड़ाई और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की अमानुषिकता के प्रति रोष पर कान भी नहीं देना चाहता।''

हिंदी नवजागरण पर ''भारतेंदु बंकिम चिंतन-परंपरा को हिंदी पट्टी तक लेकर आते हैं। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेंदु बहस के आवरण में लिपटी शालीन उहापोह के साथ बंकिम की मान्यता को समर्थन देते हैं कि विधवा-विवाह भले ही शास्त्रसम्मत हो, समाजसम्मत नहीं है।'' यहां माना गया है कि नवजागरण की इन्हीं कमजोरियों का प्रभाव आने वाले समय के साहित्य पर पड़ा, फलतः राष्ट्रीय आंदोलन में रूढ़ मातृ छवि गढ़ने की कोशिशें तेज हुईं, परंतु यहां भी महादेवी 'श्रृंखला की कड़ियां' लेकर सजग हैं। ध्यान रहे कि मैनेजर पांडे, निर्मला जैन, अर्चना वर्मा और दूधनाथ सिंह जैसे धुरंधर आलोचकों ने इस विषय को पहले ही छू लिया है। इसके बावजूद यह लेखिका का वैचारिक साहस ही

है, जिसने महादेवी के साहित्य का 'ताज़ा पाठ' निकालकर बहस को मजबूती से आगे बढ़ा दिया है। यहां पूरक के रूप में सुभद्रा कुमारी चौहान का साहित्य पहली बार स्त्री-लेखन के वैचारिक हथियार के रूप में पाठक के सामने रखा गया है। महादेवी के पास समाधान है, फलतः सीमाएं भी होंगी, परंतु ''सुभद्रा कुमारी चौहान के पास समाधान के नाम पर कुछ नहीं। वे सिर्फ़ सवाल उठाती हैं कि सुपरिभाषित पारिवारिक-सामाजिक संबंधों की हदबंदी के बाहर विकसित स्त्री-पुरुष संबंध को किस आधार पर खारिज़ किया जाए?'' इस तरह स्त्री की रूढ़ भूमिकाओं से बाहर निकलने की छटपटाहट आज के भूमंडलीकरण की देन नहीं, वरन् मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों में से एक है। इतना जरूर है कि इस तरह के तर्क एक ही समय में तेजी से फैले। जब महादेवी लिख रही हैं कि ''किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी (स्त्री की) समस्या को नहीं देखा'' ठीक उसी युग के आसपास सीमोन द बाउवा लिखती हैं, ''पुरुष औरत को औरत के लिए परिभाषित नहीं करता, बल्कि...बल्कि पुरुष के संदर्भ में ही पारिभाषित और विभेदित की जाती है।'' मात्र वैश्विक परिदृश्य पर जो 'इंटरनेशनल सिस्टरवुड' है, उसकी पृष्ठभूमि का यह युग है, जहां तमाम सांस्कृतिक विविधता स्त्री-लेखन की चेतना में एकरूपता है और इसे लेखिका ने बखूबी पकड़ा है।

किताब की कुछ भीतरी बहसों पर ध्यान देना इसलिए भी जरूरी है कि स्त्री बनाम स्त्री, एक विचार बनाम दूसरा, एक स्थापना बनाम दूसरी स्थापना के 'डाइलेक्टिक्स' में बहस का नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा गया है। मीराबाई से लेकर समकालीन महिला उपन्यासकारों-कथाकारों तक ऐसे शायद ही कोई विषय हों, जिन्हें इस किताब में छोड़ा गया है। जहां कृष्णा सोबती के उपन्यासों के कई पात्रों ने देह और उसकी जरूरत की खुली सच्चाई को हिंदी-पट्टी के मंच पर पहली बार बेधड़क उतारा, वहीं ''स्त्री-मुक्ति के साथ अविभाज्य रूप से देह-मुक्ति की धारणा'' को रोहिणी अग्रवाल ने साध लिया, परंतु ''उपभोक्तावाद की लहर और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उन्माद ने बौखलाए पुरुष की हर मुराद पूरी कर दी है।'' सजगता की नई चुनौतियां साफ-साफ देखती हैं। अंतिम दो विषय 'जुल्म की शिकार देह होती है, रूह नहीं' और 'नैतिकता के कोलाहल में देह-विमर्श की धमक' पर लिखे गए लेख में पुरुषवादी वर्चस्व और बाजार के बीच स्त्री की प्राथमिकता के नए केंद्रों को देखा गया है। हालांकि इसके अपने खतरे भी हैं कि बाजार सौंदर्य का नया कैदखाना या स्त्री उड़ान की वास्तविकता, परंतु मुक्ति के सपने को पूरा करने के लिए 'एक ज़ोखिम और' का आग्रह यहां दिखता है। नब्बे के दशक से लेकर अभी तक लिखे गए लगभग उल्लेखनीय उपन्यास और कहानी का शायद ही कोई हिस्सा हो, जिसे इस किताब ने नोटिस न किया हो। साथ ही उन विषयों के युग-सापेक्ष और स्त्री-सापेक्ष मूल्यांकन में कई संवेदी और तल्ख़ टिप्पणियों ने भी पूरी जगह ली है। यहां स्त्री-लेखन के स्वप्न की आंच पर कुछ संकल्प हैं। जाहिर है आंच जलाने का काम कम और सेंकने का काम ज्यादा करेगी। अंततः 'स्त्री-लेखन : स्वप्न और स्वप्न' का दायरा छोटा है। यदि वे राधा जी की पुस्तक 'स्त्री-संघर्ष का इतिहास' उलटती तो स्त्री-विमर्श के अपने संकीर्ण दायरे से ऊपर उठतीं।

स्त्री-लेखन : स्वप्न और स्वप्न/रोहिणी अग्रवाल/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 450

डॉ. अंबेडकर कॉलेज, यमुना विहार के निकट, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली मो. 9971194599

तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' पहली बार जब 'रचना समय' में छपी थी तो हिंदी पाठकों के बीच थोड़ी सुगबुगाहट हुई थी, फिर भी उनके कहानीकार को हिंदी के कथा-आलोचकों ने गंभीरता से नहीं लिया था। बीच में तेजेंद्र शर्मा का फिर एक कहानी संग्रह भी आया, लेकिन जब 'इंडिया टुडे' के एक विशेषांक में एक सर्वेक्षण के अंतर्गत 20 वर्षों की 20 उत्कृष्ट कहानियों की सूची प्रस्तुत करने के लिए हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों से पूछा गया तो कहानीकार हरि भटनागर ने जिन कहानियों के नाम लिए उनमें 'कब्र का मुनाफा' भी थी। इस कहानी के उल्लेख से इतना जरूर हुआ कि जिन लोगों ने पहले यह कहानी नहीं पढ़ी थी, उन्होंने ढूंढ़कर यह कहानी पढ़ी। फिर भी इस कहानी पर जिस तरह हिंदी के सुधी पाठकों के बीच प्रतिक्रिया होनी चाहिए, वह नहीं हुई।

हिंदी समाज की एक विचित्र आदत यह है कि कही-सुनी बातों से लोग ज्यादा उत्तेजित होते हैं, खुद पढ़-पढ़ाकर निर्णय लेने पर कम ध्यान देते हैं। यही कारण है कि यह कहानी साजिश की शिकार हुई। पिछले दिनों यमुना नगर में प्रवासी साहित्य पर आयोजित तीन दिवसीय अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी में बोलने के लिए जब मैंने इस कहानी का चुनाव किया तो कहानी पढ़कर मैं सचमुच हैरान रह गई। यह देखकर कि यह कहानी एक बिल्कुल नई थीम और नई विषयवस्तु को हमारे सामने लाती है। मेरे जानते अब तक हिंदी में संभवतः पहले इस थीम पर कोई कहानी नहीं लिखी गई।

तेजेंद्र शर्मा शहरी ठाठ के कहानीकार हैं। 'कब्र का मुनाफा' कहानी हमारे समय के बढ़ते बाजारवाद से उत्पन्न उपभोक्ता संस्कृति के दुष्प्रभाव को बड़ी खूबसूरती से सामने ही नहीं लाती, बल्कि हमारी संवेदनशीलता को भी झकझोरती है। खलील जैदी और नज़म जमाल मूलतः पाकिस्तान और हिंदुस्तान के रहने वाले हैं, लेकिन लंदन में बस गए हैं। दोनों के बीच घनिष्ठ मैत्री है, लेकिन विचारधारा ही नहीं, आचार-व्यवहार में भी फर्क है। खलील सिगरेट पीता है, शराब नहीं और नज़म शराब पीता है, सिगरेट नहीं, लेकिन दोनों एक-दूसरे को बर्दाश्त करते हैं। लंदन के फाइनेन्शियल सेक्टर में खलील की खासी इज्जत है। दोनों काफी धनाढ्य हैं, लेकिन नौकरी से रिटायरमेंट के बाद दोनों ही कुछ नया काम करने की योजना बनाते हैं। इस बीच लंदन के पॉश इलाके कार्पेंडर्स पार्क में कब्र की बुकिंग के विज्ञापन पर नजम की नजर जाती है और वह खलील से

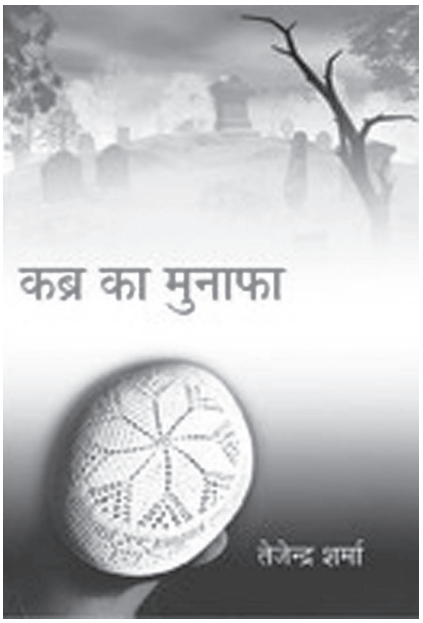

कहता है, 'वो खाली दस पाउंड महीने के प्रीमियम पर आपको शान से दफनाने की पूरी जिम्मेदारी अपने पर ले रहे हैं।...लाश को नहलाना, नए कपड़े पहनाना, कफन का इंतजाम, रॉल्स रॉयस में लाश की सवारी और कब्र पर संगमरमर का प्लाक–ये सब इस बीमे में शामिल है।' खलील को नजम का आइडिया पसंद आता है, लेकिन धार्मिक कट्टरता के मारे वह पूछता है, 'ये साला कब्रिस्तान शिया लोगों के लिए एक्सक्लूसिव नहीं हो सकता क्या? वर्ना मरने के बाद पता नहीं चलेगा कि पड़ोस में शिया है, सुन्नी है या फिर वो गुजराती टोपी वाला। यार सोचकर ही झुरझुरी महसूस होती है। मेरा बस चले तो एक कब्रिस्तान बनाकर उस पर बोर्ड लगा दूं शिया मुसलमानों के लिए रिजर्व्ड'।

खलील जैदी में न केवल धार्मिक कट्टरता है, बल्कि अपने स्टेटस का भी उसे पूरा खयाल है, इसलिए वह नहीं चाहता कि मरने के बाद हम किसी खानसामा, मोची या प्लंबर के साथ पड़े रहें।' खलील की बातें उसकी पत्नी नादिरा, जो एक सोशल एक्टिविस्ट है, को पसंद नहीं आती और वह खलील के इस तर्क को, 'अपने जैसे लोगों के बीच दफन होने का सुख और ही है'–काटना चाहती है कि 'खलील अपने जैसे क्यों? अपने क्यों नहीं? आप पाकिस्तान में क्यों नहीं दफन होना चाहते? वहां आप अपनों के करीब रहेंगे, क्या ज्यादा खुशी नहीं हासिल होगी?

खलील जैदी का सोचना है कि चूंकि उसने अपनी पत्नी और परिवार को जमाने की सारी सुख-सुविधाएं, ऐशो-आराम दिए हैं, जिसके लिए उसकी पत्नी को उसका

कृतज्ञ होना चाहिए, लेकिन नादिरा को इन तमाम भौतिक सुविधाओं के बीच रहते हुए भी कभी सच्ची खुशी महसूस नहीं होती और अपने तमाम दुःख-दर्द को वह अपने सीने में दबाकर बनावटी हँसी अपने होंठों पर टांक लेती है और खलील के साथ जिंदगी जीने का समझौता कर लेती है। उसे मालूम है कि दूसरे पुरुषों की सामंती मानसिकता की तरह ही खलील को भी कंट्रोल करने की बीमारी है। वह हर चीज, हर स्थिति, हर व्यक्ति को कंट्रोल कर लेना चाहता है कंट्रोल फ्रीक। नादिरा खलील से कब्र का आरक्षण कराने की बात सुनकर इसलिए भी ज्यादा चिंतित हो जाती है कि सारी उम्र तो खलील जैसे इन्सान के साथ बिता ली, लेकिन 'मरने के बाद भी खलील की बगल में ही रहना होगा। क्या मरने के बाद भी चैन नहीं मिलेगा?' उसे एक घटना की याद आती है, जब वे लोग एक बार परवेज अहमद के घर गए थे और वहां बातों-बातों में नादिरा ने कह दिया था कि भारत का प्रधानमंत्री सिख, वहां का राष्ट्रपति मुसलमान और कांग्रेस की मुखिया ईसाई। क्या दुनिया के किसी भी और देश में ऐसा हो सकता है?' जिसको सुनकर खलील अपने आपे में नहीं रह पाया और नादिरा को तलाक देने तक की धमकी दे डाली थी।

कब्रें आरक्षित कराने के काफी समय बाद खलील और नजम, दोनों ही इस विषय को भूल जाते हैं और नया धंधा करने की योजना बनाते हैं। नादिरा को जब कब्र आरक्षण की मासिक किश्त में पैसे बढ़ाने की चिट्ठी मिलती है, वह नाराज हो जाती है। वह खलील पर कब्र के आरक्षण को कैंसिल करवाने के लिए जोर डालती है, लेकिन खलील उसकी बात पर ध्यान नहीं देता है। अचानक यहां कहानी में एक नाटकीय मोड़ आता है, जब वह विज्ञापन एजेंसी को फोन करके कब्र का आरक्षण कैंसिल करवाने के लिए कहती है तो उसे पता चलता है कि कब्र का आरक्षण करवाने में भी मुनाफा हुआ है। वह खलील से कहती है कि 'आपने साढ़े तीन सौ पाउंड एक कब्र के लिए जमा करवाए हैं यानी कि दो कब्रों के लिए सात सौ पाउंड और अब इन्फ्लशन की वजह से उन कब्रों की कीमत हो गई है ग्यारह सौ पाउंड, यानी कि आपको कुल चार सौ पाउंड का लाभ।' इतना सुनते ही खलील की आंखों में चमक आ गई, क्योंकि उसे नया धंधा मिल गया था।

बाजारवाद हमारी जिंदगी में चुपचाप किस तेजी से प्रवेश कर रहा है, इसकी मिसाल है यह कहानी। यहां यह सवाल भी उठता है कि क्या बाजारवाद की इस आंधी में हमारी मनुष्यता, संवेदना कहीं खो गई है कि हम कब्र से भी अर्थात् मरने के बाद भी मुनाफे की ही बात सोचें।

इस कहानी की दूसरी स्त्री पात्र नजम जमाल की पत्नी आबिदा है। आबिदा यद्यपि अपने पति नजम के विवाहेतर संबंधों को जानती है, फिर भी मस्त रहती है और भरपूर जिंदगी जीने की कोशिश करती है, क्योंकि वह अपने मन की सारी बातें नादिरा से कहकर हल्की हो जाती है। महसूस तो नादिरा भी करती है, लेकिन वह हर बात केवल अपने सीने में दबाए रखती है। दोनों जानती हैं कि उनके पतियों के पास उनके लिए कोई समय नहीं है, जबकि दोनों के पति एक आम पुरुष की तरह यह सोचते हैं कि जमाने भर की सुविधाएं मुहैया कराना ही काफी है, जबकि एक स्त्री को असली खुशी एक सामान्य जिंदगी जीने में या एक बैडरूम के फ्लैट में मिल सकती है। दूसरी ओर महलों में रहने के बावजूद उसे वहां मकबरे का-सा आभास ही मिल सकता है। इस कहानी का दूसरा पुरुष पात्र नजम जमाल एक शांत पात्र है, कहीं भी लाउड नहीं। खलील की योजना में वह कहीं विरोध नहीं करता, सहमति अवश्य देता है।

आज के स्त्री-विमर्श के इस दौर में यह एक सशक्त कहानी है। जब तक एक औरत को मन की और अभिव्यक्ति की आजादी नहीं मिलेगी, तब तक सही मायने में सारा स्त्री-विमर्श केवल दिखावा-मात्र ही होगा। नादिरा आर्थिक रूप से अपने पति खलील पर आश्रित है, किंतु वह दासी बनकर रहने को तैयार नहीं है। वह उस स्थिति में जीते हुए भी विद्रोह करने से चूकती नहीं है। खलील भी उस हव्वा की औलाद से खौफ खाता दिखाई देता है। नादिरा के विद्रोह के फलस्वरूप ही खलील को पता चलता है कि कब्रों के बुक कराने और बेचने में कितना लाभ हो सकता है और उसे नया धंधा मिल जाता है। नादिरा का विद्रोह नारेबाजी वाला विमर्श नहीं है। वह सामंती सोच के सामने शालीन ढंग से अपनी बात मनवाने के लिए अपना समाजवाद इस्तेमाल करती है।

यह कहानी वहीं खत्म नहीं होती, जहां खत्म होती है, बल्कि अपने पीछे बहुत सारे ऐसे सवालों को उठाती है, जो हमारी जिंदगी से गहराई से जुड़े हुए हैं। पहला सवाल धार्मिक कट्टरता है और यह कट्टरता दोनों मुस्लिम पुरुष पात्र–खलील और नजम में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है, जो मृत्यु के बाद कब्र में होते हुए भी धार्मिक कट्टरता से दूर नहीं होना चाहते यानी शिया की बगल में सुन्नी न हो और सुन्नी की बगल में शिया न हो। दूसरा सवाल ज्यादा अहम है और वह है कि भौतिक सुविधाओं से उत्पन्न चमक-दमक के बीच मौत को भी खूबसूरती प्रदान करना, इसके लिए एक पॉश इलाके में कब्र का आरक्षण ही काफी नहीं है, बल्कि धूमधाम से मेकअप के साथ रॉल्स रॉयस पर चढ़कर जनाजे का निकलना। यह हमारे समय की एक बड़ी विडंबना ही नहीं, बल्कि एक ऐसा विपर्यय भी है, जो हमसे हमारी मनुष्यता भी छीन लेता है, लेकिन खलील और नजम की मानसिकता और धार्मिक कट्टरता के विपरीत इन दोनों की पत्नियां की सोच है। नादिरा सेकूलर और प्रगतिशील विचारों की है और आबिदा अपने में अलमस्त है। गौर करने की बात है कि इनकी असली जिंदगी मौत के बाद शुरू होती है। यह कहानी मौत जैसे भयावह यथार्थ को भी भुनाती है, जबकि मौत लोगों को डराती है।

इस कहानी की थीम नई इस अर्थ में है कि यह पश्चिम का बाजारवाद है, जहां विज्ञापन के सहारे मौत को भी आकर्षक और मोहक बनाया जा सकता है, क्योंकि वहां अपेक्षाकृत भौतिक सुविधाएं ज्यादा हैं, इसलिए भी आपस में प्रतिस्पर्धा है। इस कहानी में मौत और कब्र दोनों नए विस्तार पाते हैं। लंदन बसने से पहले जहां तेजेंद्र की कहानियों में मौत एक-दूसरे रूप में आती है, वहीं लंदन प्रवास के बाद वे मौत को भी एक खिलंदड़े अंदाज में सामने लाते हैं यानी उनकी कहानियों में अब रचनात्मक प्रौढ़ता साफ दिखाई देती है। वरिष्ठ कथाकार और

'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि 'कब्र का मुनाफा' ऐसे मुसलमान दोस्तों की कहानी है, जो न अपने भीतर के लखनऊ को निकाल पाए हैं, न कराची को और अपने लिए खरीदी गई कब्रों की जगहों को मुनाफे में बेचकर सफलता का संतोष पाते हैं। यह मरते-मरते विदेश से कुछ-न-कुछ झटक लेने का लालच है।'

लाश के मेकअप का सामान और उसका दुल्हन की तरह शृंगार करने का दावा कहानी को नया आयाम प्रदान करता है। कंपनी का दावा कि वे आग से झुलसे चेहरे या फिर दुर्घटना से विकृत चेहरे को भी खूबसूरत बना सकते हैं, आने वाले भविष्य की भयावह सोच को सामने लाता है। तेजेंद्र इस सबको इतने सहज ढंग से कह जाते हैं कि इसका गहरा असर कहानी पढ़ने के बाद देर तक भीतर तक बना रहता है।

दरअसल इस कहानी में मानवीय मूल्यों की टकराहट है, जिसकी अनुगूंज सुदूर अतीत का स्पर्श करती हुई वर्तमान के बीच से भविष्य को भी सुनिश्चित करना चाहती है। नादिरा और खलील की सोच में जमीन-आसमान का अंतर है। नादिरा ज्यादा व्यावहारिक है, जबकि खलील स्वप्नजीवी, इस तरह यह कहानी यथार्थ और फैंटेसी के मिश्रण से बनी है। यदि आप हिंदी के लगभग विस्मृत कहानीकार इसराइल की कहानी 'मुर्दों का रखवाला' ('फर्क' संग्रह में संकलित) को याद करें और तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' को आमने-सामने रखकर देखें तो यह स्पष्ट होगा कि पहली कहानी में मानवीयता है, जबकि दूसरी कहानी में अमानवीयता यानी इन दोनों कहानियों में दो सांस्कृतिक मूल्यों की टकराहट है। पश्चिमी संस्कृति बाजारवाद की गिरफ्त में है, जबकि भारतीय संस्कृति में बाजारवाद की पैठ अभी उतनी गहरी नहीं हुई है। कहना न होगा कि तेजेंद्र की यह कहानी इसलिए भी उल्लेखनीय है कि यह जिंदगी के मुहाने पर मनमोहक और भयावह मौत को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

4-सी, उना एंक्लेव, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 09891349058, ईमेल : agrawalsadhna2000@gmail.com

इतिहास

शहीदे आज़म भगत सिंह

राजकुमार सैनी

शहीदे आज़म भगतसिंह व उनके क्रांतिकारी साथियों की शहादत पर लिखी गई प्रेमचंद सहजवाला की 118 पृष्ठों की पुस्तिका में आज़ादी के इतिहास में कुछ और पन्ने जोड़ने की पुरज़ोर कोशिश की गई है। आज़ादी के लिए छटपटाहट कब और कहां से शुरू हुई? इस सवाल के उत्तर में लेखक का कथन है कि 10 मई, 1857 को आज़ादी के इतिहास की पूर्व पीठिका मानना समीचीन होगा, पर जब 28 दिसंबर, 1885 को बंबई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज में 72 प्रतिनिधियों ने मिलकर 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की तो आज़ादी के मोर्चे पर कदम बढ़ाने वाले बुद्धिजीवी नेताओं का आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात् कांग्रेस में तिलक-गोखले द्वंद्व उभरा। फिर इसी द्वंद्व की परिणति गांधी-तिलक टकराव के रूप में हुई। तिलक को 10 मार्च, 1892 को गिरफ्तार किया गया। तिलक और गांधी के अनुयायियों के रूप में गरम और नरम (हिंसा और अहिंसा) दो दलों में कांग्रेस विभाजित होने लगी। कांग्रेस के भीतर तथा बाहर अनेक युवकों का विचार था कि सशस्त्र संघर्ष के बिना आज़ादी हासिल नहीं हो सकेगी। पूना के चापेकर बंधुओं से लेकर भगतसिंह तक अनेक नौजवान थे, जो सशस्त्र संघर्ष द्वारा ब्रिटिश राज को समाप्त करने का स्वप्न देखते थे। गुलामी के विरुद्ध सभी नौजवानों में तथा वरिष्ठ बुद्धिजीवी नेताओं में लड़ने की प्रबल लालसा थी। नौजवानों और वरिष्ठ नेताओं ने गुलामी का जुआ उतारकर फेंक देने की जो चेतना थी, उसी को रेखांकित करने के प्रयास के रूप में यह शोधपरक पुस्तक लिखी गई है, लेकिन अधिकांश विवरण भगतसिंह की कारगुज़ारियों के इर्द-गिर्द घूमते हैं और उन्हीं का लेखा-जोखा लेते हैं। लेखक की खोज के अनुसार एक तथ्य यह उभरता है कि 'सरफरोशी की तमन्ना' शीर्षक ग़ज़ल को यद्यपि अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल बहुत चाव से गाते थे, पर इसे एक अन्य शायर बिस्मिल अज़ीमाबादी ने लिखा था। इस तथ्य की पुष्टि में लेखक ने इतिहास व राजनीतिक-विश्लेषक ए. जी. नूरानी (The Trial of Bhagat Singh–Polities of Juslice') [पृ. 12, 13, व 16] तथा प्रसिद्ध शायर अली सरदार जाफ़री का हवाला दिया है।

प्रेमचंद सहजवाला जलियांवाला बाग की दुर्घटना से शुरुआत करते हुए कहते हैं कि इस दर्दनाक घटना का महात्मा गांधी पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अंग्रेजों से असहयोग का रास्ता अपनाया। लेखक इस

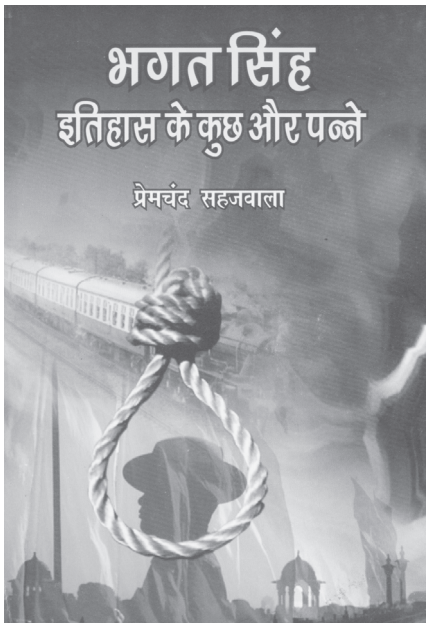

संदर्भ में टिप्पणी करता है कि ब्रिटिश शासन से असहयोग का रास्ता 'कोई फूलों की सेज नहीं थी।' रास्ता भले ही अहिंसा का था, पर फिर भी सहज और सरल नहीं था; बेहद कठिन था।

इसी घटना का असर एक बारह वर्ष के बालक पर भी पड़ा और वह बालक भगतसिंह ही था। जलियांवाला बाग के गोलीकांड के कुछ समय बाद भगतसिंह बचपन में ही अपने पिता के साथ वहां आया था। उसने शहीदों के ख़ून से सनी मिट्टी को एक छोटी-सी बोतल में भर लिया और शपथ ली कि वह अंग्रेजों को इस देश से निकालकर ही दम लेगा। बालक के पिता और चाचा क्रांतिकारी थे ही, उसी दिन से बालक भगतसिंह भी क्रांतिकारी भगतसिंह बन गया। यह पूछे जाने पर कि तुम्हारा धर्म क्या है, वह जवाब देता– 'देशभक्ति!'

लेखक भगतसिंह को एक परिपक्व युवा बुद्धिजीवी के रूप में विकसित होते हुए चित्रित करता है। उदाहरण के लिए लेखक इस तथ्य को रेखांकित करता है कि भगतसिंह क्रांतिकारी होने के साथ-साथ एक प्रखर बुद्धिजीवी थे और विश्व के महान रूसी क्रांति के नायक लेनिन से प्रभावित थे। एक प्रकार से लेनिन की प्रतिलिपि थे। यदि युवा के रूप में शहीद नहीं हो जाते तो भारतीय लेनिन ही बन जाते। (पृ. 21)

लेकिन इसी संदर्भ में लेखक यह टिप्पणी करता है, 'यह बात दीगर है कि बाद के दशकों में वामपंथी विचारधारा पिट गई।' लेखक यह स्पष्ट नहीं करता कि यह बात दीगर क्यों है? लेखक का यह अंतर्विरोध विचारणीय है; जो विचारधारा आज पिट रही प्रतीत होती है, वह कल भविष्य में मार खाई नागिन की मानिंद फण फुंकारकर खड़ी हो सकती है। रोचक बात यह है कि भगतसिंह का गांधीजी से वही समीकरण था जो, लेनिन का लियो टॉलस्ताय से।

भगतसिंह के धर्म संबंधी विचारों की पड़ताल करते हुए लेखक कहता है 'कार्लमार्क्स की तरह भगतसिंह भी मानते थे कि धर्म एक अफ़ीम है।' अध्येता और प्रखर बुद्धिजीवी युवक भगतसिंह के भीतर का लेनिन सक्रिय हो चुका था। केवल एक ही अंतर था, लेनिन और भगतसिंह में, जिसे जीवन के अंत तक पहुंचकर भगतसिंह ने स्वीकारा। प्रसंगवश मुझे DAVID SHUB की पुस्तक 'LENIN' की भी याद आ गई है, लेनिन के बड़े भाई एलेक्जैंडर को चार अन्य क्रांतिकारियों के साथ ज़ार की हत्या करने के प्रयास में फांसी दे दी गई तो लेनिन सोचते हैं कि वे बदला लेंगे, मगर कुछ दूसरी ही तरह से, लेनिन जनता को साथ लेकर चलने में और अंततः सशस्त्र क्रांति में विश्वास करते थे। अंततः भगतसिंह भी इसी निर्णय पर पहुंच चुके थे। फांसी पर झूलने से पूर्व वे लेनिन की जीवनी पढ़ रहे थे। इससे पूर्व 'लेनिन दिवस' के अवसर पर (जनवरी, 1930) भगतसिंह और उनके साथी लाल रंग के स्कार्फ पहनकर जेल से अदालत में आए; भगतसिंह ने मैजिस्ट्रेट की मेज़ पर टेलीग्राम का प्रारूप रखा और मांग की कि इसे कृपया मॉस्को भेजा जाए; वहां लेनिन दिवस के उपलक्ष्य में तृतीय अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन हो रहा था। इस प्रारूप में भगतसिंह की ओर से एक संदेश था, ''हम 'लेनिन दिवस' के सुअवसर पर कामरेड लेनिन द्वारा चलाए गए महान प्रयोग की सफलता पर हार्दिक बधाई देते हैं। विश्व के इस क्रांतिकारी आंदोलन के साथ हम अपना नाम जोड़ने के इच्छुक हैं।'' (पृ. 63)

अदालत में भगतसिंह और उनके साथी 'इंकलाब ज़िंदबाद' व 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' के नारे लगाया करते थे। भगतसिंह निर्भीक और प्रबुद्ध होने के साथ-साथ विनम्र भी थे। उनका यह कथन ध्यान देने योग्य है, जिससे स्पष्ट है कि वे आतंकवादी नहीं थे, ''मैं 'आतंकवादी' नहीं हूं। मैं एक क्रांतिकारी हूं जिसके पास एक लंबे कार्यक्रम को लेकर सुनिश्चित विचारधारा है...अपने भीतर की संपूर्ण शक्ति से मैं यह घोषणा करता हूं कि में 'आतंकवादी' नहीं हूं।'' (पृ. 36)

नेताजी सुभाषचंद्र बोस द्वारा आज़ादी के लिए किए गए सशस्त्र संघर्ष का ज़िक्र करते हुए लेखक एक स्थान पर कहता है कि हिटलर से जब सुभाषचंद्र बोस ने भारत की आज़ादी के लिए सहायता की मांग की तो हिटलर ने कहा कि भारत को अभी कम-से-कम डेढ़ सौ वर्षों तक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती. ..और यह भी कि मैं नहीं चाहता कि भारत से ब्रिटिश हटें; क्योंकि ब्रिटिश हटेंगे तो वहां संभवतः रूस आ जाएगा। (पृ. 38)

पंडित नेहरू और अमर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद की एक मुलाकात का हवाला देते हुए लेखक यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि 'आतंकवादी' तौर-तरीकों से उनका मोहभंग हो चुका था। हालांकि इस बात पर भी चंद्रशेखर विश्वास करने को तैयार नहीं थे कि आज़ादी पूर्णतः शांतिपूर्ण तरीकों से मिलेगी।'

भारतीय मुक्ति-संघर्ष के इतिहास का विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय का निष्कर्ष युक्तियुक्त जान पड़ता है कि भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए देश के भीतर और बाहर जो सशस्त्र और शांतिपूर्ण प्रयास तथा संघर्ष किए गए, उन सभी के समेकित फल के रूप में भारत आज़ाद हुआ। अतः किसी भी प्रयास को नकारना अथवा कम करके आंकना अनुचित होगा। आज़ादी उन सभी सशस्त्र तथा शांतिपरक कारगुज़ारियों का गुणनफल है। सभी तरह के प्रयासों एवं संघर्षों के मिलेजुले परिणाम के रूप में हमें अपनी आज़ादी के इतिहास का मूल्यांकन करना चाहिए, बल्कि मैं तो यह कहूंगा कि पराधीन भारत में जिन लोगों ने आज़ादी के सपने देखे, उन्होंने भी देश के स्वतंत्र होने में अपना योगदान दिया। इस मुहिम में जिन्होंने त्याग किया और शहादत दी, उनका योगदान सर्वोपरि माना जाएगा।

भगतसिंह उन अमर शहीदों में एक हैं, देश के लिए जिनका बलिदान कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। उन पर पहले भी लिखा गया है और भविष्य में भी लिखा जाता रहेगा। प्रेमचंद सहजवाला की यह पुस्तक भी उक्त परंपरा की एक कड़ी है। पुस्तक कितनी प्रामाणिक है, इसका जायज़ा तो कोई इतिहासविद् ही ले सकता है, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि सरल, सहज और रोचक भाषा-शैली में लिखी गई यह पुस्तक सहृदय हिंदी पाठकों के लिए पठनीय है।

भगतसिंह : इतिहास के कुछ और पन्ने/प्रेमचंद सहजवाला/अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-110030, मूल्य : ₹ 150

122, दिन अपार्टमेंट्स, सैक्टर 4, प्लाट नं. 7, द्वारका, फेज-1, नई दिल्ली-110078, मो. 9810709883.

शमशेर-लीला और मुक्तिबोध

कुबेर दत्त

22 मई, 1988। 35, फिरोज़शाह रोड, नई दिल्ली, जे.एन.यू. का सिटी सेंटर सभागार। तीन पीढ़ियों के हिंदी-साहित्यकारों का अभूतपूर्व जमावड़ा। कौन नहीं था वहां? नागार्जुन थे, त्रिलोचन थे, नामवर सिंह, लक्ष्मीकांत वर्मा, हंसराज रहबर, जगदीश गुप्त, प्रभाकर माचवे, कुंवरनारायण, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, राजेन्द्र यादव आदि और 'कवियों के कवि' शमशेर।

यह सारा जमावाड़ा केवल शमशेर बहादुर सिंह के कारण था। वे सुरेन्द्र नगर से आए थे और उन्हें देखने-सुनने-उनसे मिलने के लिए कई पीढ़ियों के साहित्यकार (बाहर के शहरों के भी) वहां जमा हुए थे।

अवसर था 'प्रेमचंद्र महेश सम्मान' समारोह और 'वाणी पुरस्कार समारोह'। 'वाणी पुरस्कार', जो डॉ. रंजना अरगड़े की पुस्तक–'कवियों का कवि शमशेर' के लिए घोषित हुआ था। निर्णायक थे, डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. नामवर सिंह और डॉ. निर्मला जैन।. ..तो शमशेरजी, समारोह में आ रहे हैं, ये जानकर हिंदी-समाज वहां उमड़ पड़ा था। संकोची स्वभाव के शमशेर, सभा-गोष्ठियों से आदतन परहेज करने वाले शमशेर, प्रचार से कोसों दूर, साहित्य के केंद्रों से विरत, आलोचना-जगत से नदारद, स्वयं अपने बारे में या अपने लिखे के बारे में लगभग चुप रहने वाले शमशेर मुज़फ्फरनगरी से दिल्ली आ रहे हैं, सुनकर उनका मुरीद हिंदी-समाज वहां उमड़ पड़ा था। स्वयं शमशेर इतने लोगों की अपेक्षा भी न करते होंगे, मगर जो सच था, वह था।

जहां त्रिलोचन कुछ शांत दीख रहे थे तो नागार्जुन उनसे खुलकर मज़ाक कर रहे थे। शमशेर थे कि कभी संकोच में मुस्कुरा देते थे, कभी अपने नए-पुराने साथियों को देखकर विस्मित-से हो जाते थे, उनके चेहरों पर पुरानी स्मृतियां खोजते।

त्रिनेत्रजी ने रंजना और शमशेर के बीच के कुछ संवाद भी रिकॉर्ड किए, यथा–

''रंजना को ये शिकायत है कि मैं इनकी कविताओं में रुचि नहीं लेता।'' इस पर रंजना ने कहा, ''हां, ये शिकायत तो है कि शमशेरजी मेरी कविताओं में रुचि नहीं लेते।'' इस बीच रंजना के पिता कहते हैं, ''जब से रिटायर हुआ हूं और जब-जब सुरेन्द्र नगर जाता हूं तो जितनी बन पड़ती है, शमशेरजी की सेवा करता हूं। इससे मुझे लगता है, ज़िंदगी का कुछ तो परपज़ पूरा हुआ। इसी बीच शमशेर एक छोटी बच्ची से बातचीत करने लगते हैं और बीच-बीच में हँसते भी हैं। एक प्रसंग में वे मलिक मोहम्मद जायसी को सादर याद करते हैं और ज़ोर देकर कहते हैं हिंदी के विकास के वे पितामह कहे जाएंगे।

अब दृश्य बदलता है। 'नैनीताल समाचार' पत्र ने शमशेरजी के सम्मान में चेतराम शाह, इंटर कॉलिज में एक संगोष्ठी

का आयोजन किया। भीड़भाड़ ज्यादा नहीं थी। कुछ चेहरे, जो पहचान में आए, वे हैं, वयोवृद्ध स्थानीय कवि गोविंदवल्लभ पंत, शेखर पाठक, नाट्य-निर्देशक प्रसन्ना, गिरदा, राजीव लोचन शाह, त्रिनेत्र जोशी, पूनम जोशी, रंजना अरगड़े, उनके पिता, बहन-बहनोई और कई युवा रचनाकार-पत्रकार। माहौल औपचारिक नहीं था। कार्यक्रम की शुरुआत से पहले वयोवृद्ध कवि गोविंदवल्लभ पंत शमशेरजी से बतिया रहे थे। उन्होंने पूछा, ''आपकी उम्र क्या है?'' शमशेरजी बोले, ''सतत्तर साल''। पंतजी ने कहा, ''बुजर्गियत में विज़न ज्यादा मिलता है!'' शमशेरजी ने कहा, ''मैं भी मानता हूं।'' कहकर वे धीरे-से मुस्कुराए भी। क्या था उस धीमी मुस्कुराहट का सबब? जवाब सुनकर शमशेर के पीछे बैठी रंजना अरगड़े भी मुस्कुराई।

गोष्ठी शुरू हुई। शमशेर कह रहे थे, ''मुझे इस समय बहुत संकोच हो रहा है। सबसे पहले मैं यहां के प्राध्यापकों, छात्रों और हिंदी प्रेमियों, रचनाकारों-पत्रकारों को प्रणाम करता हूं। मेरी रचनाओं में आपकी दिलचस्पी मेरे लिए एक आश्चर्य की बात है। मैं तो कहीं आता-जाता नहीं, कवि-सम्मेलनों, गोष्ठियों में भी नहीं। यों भी इस उम्र में इधर-उधर जाने से ऊर्जा का ह्रास होता है। फिर यह भी है कि मेरे बारे में, आज भी हिंदी के कम लोग जानते हैं। (जबकि दिल्ली-दृश्य तो इसके विपरीत था, हो सकता है उनका इशारा हिंदी के शक्ति केंद्रों और आलोचना-शिविरों की तरफ़ रहा हो)। प्रशंसा के लिए मैंने कोई चीज़ नहीं लिखी। यूं भी, पूरी उम्र निकल गई, अब भी ठीक से समझ नहीं सका कि कविता आखिर है क्या! हां, फिर भी, कुछ-कुछ लिख तो लेता हूं। उर्दू का विद्यार्थी

होने के नाते ग़ज़लें भी मैंने लिखी हैं।

इस मौक़े पर शमशेरजी ने विद्यार्थी-काल के कई संस्मरण भी सुनाए। फिर वे, एक निश्चय के साथ, मुक्तिबोध पर बोलने लगे। उन्होंने कहा, ''हमारे साथियों में मुक्तिबोध प्रमुख हैं। हिंदी में उनकी प्रतिष्ठा एक बड़े कवि के रूप में है। जब मुक्तिबोध बहुत बीमार हुए और इलाज के लिए उन्हें दिल्ली लाया गया, तब मैं इलाहाबाद में था। मुझे ख़बर मिली तो मैं दौड़ा-दौड़ा गया। वे एम्स में भर्ती थे। अचेतावस्था में। निष्चेट बिस्तर पर लेटे। देखने गया। मैंने ग़ौर किया—वे बीच-बीच में बस एक ही वाक्य धीरे-से बोल रहे थे, ''सबके अपने-अपने आइडियाज़ हैं।'' आज भी मैं उनके इस वाक्य का मुकम्मल अर्थ खोजने की कोशिश में रहता हूं।...वे बच नहीं सके और हमें छोड़ गए। उनके निधन के बाद कई दिन गहरे मौन में रहा, फिर कुछ ऐसा हुआ कि हमने उन पर एक ग़ज़ल लिखी।'' यह सब कहकर शमशेर शून्य में न जाने क्या तलाश करते रहे। तब तक एक पुस्तिका में मुक्तिबोध वाली उनकी रचना ढूंढ़कर, रंजना ने पुस्तिका शमशेर की ओर बढ़ाई।

कुछ-कुछ कांपते हाथों से पुस्तक संभालते शमशेरजी ने अपनी वह रचना पढ़ी, जिसे सुनाते-सुनाते उनकी और श्रोताओं की भी आंखें नम हो गईं। प्रस्तुत है, वही ग़ज़ल, जिसका शिर्षक है—'गजानन मुक्तिबोध' (रचनाकाल : 1964, मुक्तिबोध का निधन-वर्ष भी)।

ज़माने-भर का कोई इस क़दर अपना न हो जाए
कि अपनी ज़िंदगी ख़ुद आपको बेगाना हो जाए।

सहर होगी ये शब बीतेगी और ऐसी सहर होगी
कि बेहोशी हमारे होश का पैमाना हो जाए।
किरन फूटी है ज़ख्मों के लहू से : यह नया दिन है
दिलों की रोशनी के फूल हैं—नज़राना हो जाए।
ग़रीबुद्दहर थे हम; उठ गए दुनिया से; अच्छा है
हमारे नाम से रौशन अगर वीराना हो जाए।
बहुत खींचे तेरे मस्तों ने फ़ाक़े फिर भी कम खींचे
रियाज़त ख़त्म होती है अगर अफसाना हो जाए।
चमन खिलता था वह खिलता था, और वह खिलना कैसा था
कि जैसे हर कली से दर्द का याराना हो जाए।
वह गहरे आसमानी रंग की चादर में लिपटा है
कफ़न सौ ज़ख्म फूलों में वही पर्दा न हो जाए।
इधर मैं हूं उधर मैं हूं, अजल, तू बीच में क्या है?
फ़कत इक नाम है, यह नाम भी धोखा न हो जाए।

वो सरमस्तों की महफ़िल में गजानन मुक्तिबोध आया
सियासत ज़ाहिदों की ख़ंदए-दीवाना हो जाए।

159, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज़-I, दिल्ली-91, मो. 09868240906.

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है, जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाएं हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

ठहर गयीं रेखाएं

इक़बाल रिजवी

वे भारत की धरोहर थे, लेकिन पिछले सात साल से भारत में नहीं रह रहे थे अब वे इस दुनिया में भी नहीं रहे। मकबूल फिदा हुसैन नाम का वह पेंटर एक जीवित किवदंती के रूप में हमारे बीच रहा करता था।

36 पैसे रोज की दिहाड़ी से काम शुरू करने वाले पेंटर के काम की कीमत जब 10 लाख डालर पहुंच जाए तो उसके किवदंती बन जाने पर आश्चर्य कैसा। संभवतः हुसैन हमारे दौर के सर्वाधिक चर्चित व्यक्तियों में से एक थे। उनके चर्चित होने में जितना उनका कलात्मक अवदान रहा, उससे अधिक उनकी अनोखी जीवन शैली का। इस यायावर का जीवन एक अविश्वसनीय कथा की तरह रहा, जिसके सूत्र पूरे विश्व में बिखरे हुए थे।

महाराष्ट्र के पंढरपुर इलाके में जन्मे और इंदौर में पले-बढ़े हुसैन ने जीवन में कड़ा संघर्ष किया। मुम्बई में रोजी रोटी कमाने के लिये फिल्मी होर्डिंग्स बनाए, लेकिन उन्हें जो अच्छा लगता था, वो उसे खाली समय में कागज पर उतारा करते थे। हमेशा अपनी जेब में पेंसिल और रंगों का डिब्बा रख कर घूमने वाले हुसैन की पेंटिंग्स ने उनके समकालीन पेंटर सूजा को बहुत प्रभावित किया और फिर 1947 में सूजा ने हुसैन, रजा, आरा जैसे युवा चित्रकारों का दल बनाया। प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप नाम के इस दल ने भारतीय आधुनिक कला की बुनियाद मजबूत की। हालांकि उस समय देश तो आजाद हो गया था, मगर कला और संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिम ही आदर्श के रूप में था। प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप ने चित्रकला के क्षेत्र में पश्चिम को चुनौती दी। रंग, कैनवस और पश्चिम की अन्य आधुनिक तकनीक से परहेज किये बिना संदर्भ और विचारों के लिये इस ग्रुप ने अपने देश और समय से नाता जोड़ा। सूजा, रजा, बाकरे जैसे हुसैन के कई साथी विदेशों में बस गए, लेकिन हुसैन भारत में ही रहे। पचास के दशक में हुसैन ने अपनी पहचान बनानी शुरू कर दी।

हुसैन दुनिया की किसी भी बड़ी घटना पर पेंटिंग के जरिये फौरन प्रतिक्रिया व्यक्त कर देते थे। चांद पर पहली बार इंसान पहुंचा हो या फिर 1971 के भारत-पाक युद्ध में इंदिरा गाधी के लिये फैसले हों, हुसैन ने तत्काल पेंटिंग बनाकर प्रशंसा और आलोचना दोनों हासिल कीं। हुसैन ने कला के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन यह भी किया कि उन्होंने आधुनिक भारतीय कला को स्टूडियो से निकाल कर सड़कों पर ला दिया। इससे

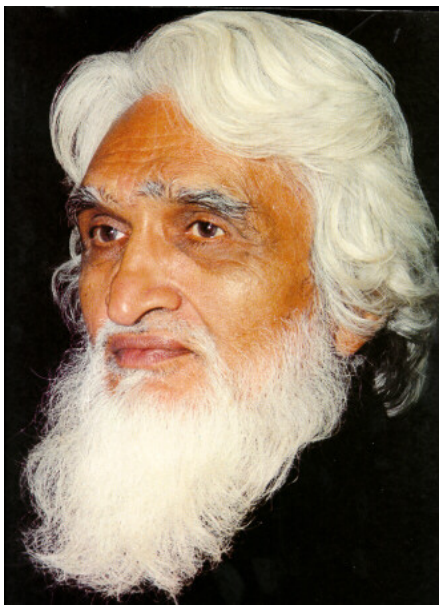

पहले आडंबर में घिरे अभिजात्य वर्ग का ही कैनवस पर कब्जा था, और कैनवस को स्टूडियो में ही पेंट किये जाने की परंपरा थी।

समाजवादी नेता राम मनोहर लोहिया ने एक बार हुसैन के चित्रों को देखते हुए जब कहा कि अभिजात्य वर्ग के लिये तो वरिष्ट कलाकार काम करते ही हैं, लेकिन कोई आमजन को भी तो कला से जोड़े और इसके लिये कलाकार को लोगों के बीच जाना होगा। हुसैन को बात ठीक लगी और उन्होंने रामायण और महाभारत पर आधारित कथाओं को बड़े-बड़े 150 कैनवास पर चित्रित कर डाला फिर उन्हें बैलगाड़ियों में रख कर आंध्र प्रदेश के गांव-गांव में महीनों तक प्रदर्शित किया। कुछ स्थानों पर भीड़ के सामने चित्र भी बनाए। दरअसल अपने प्रारंभिक जीवन में मुम्बई में सड़क के किनारे बड़े-बड़े फिल्मी होर्डिंग्स बनाने के अभ्यास ने हुसैन को इतना दक्ष बना दिया था कि उन्हें किसी भी समय और किसी के भी सामने चित्र बनाने में झिझक नहीं होती थी। हुसैन तन्हाई में अकेले बैठ कर चित्र बनाने के स्थान पर लोगों के बीच पहुंच कर चित्र बनाने को प्राथमिकता देने लगे। रेखांकन की दक्षता ने उनके चित्रों की ऐसी परिभाषा गढ़ दी कि उनके चित्र देख कर ही कला जगत का साधारण ज्ञान रखने वाले भी बता देते हैं कि अमुक चित्र हुसैन का है। दिल्ली के सिरीफोर्ट ऑडिटोरियम में गायकों और संगीतकारों के कार्यक्रम होते हैं, लेकिन हुसैन ने वहां सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में विशाल कैनवस पर सत्यजीत रे की फिल्म शतरंज के खिलाड़ी पर चित्र तैयार कर कला प्रेमियों और कला समीक्षकों को मुग्ध कर दिया।

बेंगलूरू का फुटबाल स्टेडियम हो या फिर कोलकाता में चाय की दुकान, सूरजकुंड मेले में सैकड़ों लोगों की भीड़ हो घर के किसी कोने की ठेठ तन्हाई, हुसैन कहीं भी चित्र बना देते थे। हुसैन के अपने समकालीनों में सर्वाधिक चर्चित कलाकार होने के पीछे एक कारण लोगों से इस तरह के सीधे संवाद भी बड़ा योगदान रहा। हाथों में लंबा ब्रश, नंगे पैर, सफेद झक दाढ़ी काली अचकन या फिर काले चमड़े की जैकेट और पैंट पहने हुसैन का व्यक्तित्व आठवें दशक में एक शोमैन की तरह उभरा और जल्द ही वे सुपर स्टार के रूप में याद किये जाने लगे।

आज तो भारतीय चित्रकारों का काम करोड़ों में बिक रहा है, लेकिन आठवें दश्क में दुनिया की सबसे बड़ी नीलामी संस्थाओं सॉदबी और क्रिस्टीज से भारतीय आधुनिक कला का परिचय हुसैन ने ही कराया था और वहीं से शुरू हुआ भारतीय कलाकारों के लखपति और फिर करोड़पति बनने का सिलसिला।

एक जगह टिक कर रहना हुसैन को रास नहीं आता था। पिछले पचास सालों से हुसैन किसी भी शहर में 10 दिनों से ज्यादा नहीं रहे। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया का चप्पा-चप्पा हुसैन की यायावरी का गवाह रहा। वे यायावरी के दौरान अपने चेतन अवचेतन में एकत्र छवियों को कागज, कैनवस, कपड़े और दीवारों पर उतारते जाते थे। वे पूर्व नियोजित अर्थ या विचार को लेकर कम ही चित्र बनाते थे। अर्थ तो खुद उन तक रचना के बाद ही आते थे। हुसैन ने हजारों की संख्या में चित्र बनाए, सैकड़ों रेखा चित्र और डिजाइन का सृजन किया, फिल्में बनायीं, फोटोग्राफ खींचे, 75 साल तक ना जाने किन-किन माध्यमों में उन्होंने बेतहाशा काम किया। उनका काम विश्व भर में फैला हुआ है इसलिये उनके काम का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। उनके मूल्यांकन के लिये पीढ़ियों को लगना होगा।

बहुत से बड़े व्यक्तियों की तरह हुसैन के भी अपने अंतर्विरोध रहे। वे निर्विवाद नहीं थे, ना कला जगत में, ना ही अपने जीवन में। लोकप्रिय व्यक्तियों के जीवन, कार्यों और व्यक्तित्व से कैनवास पर रिश्ता बनाने में हुसैन हमेशा तत्पर रहते थे। इस वजह से

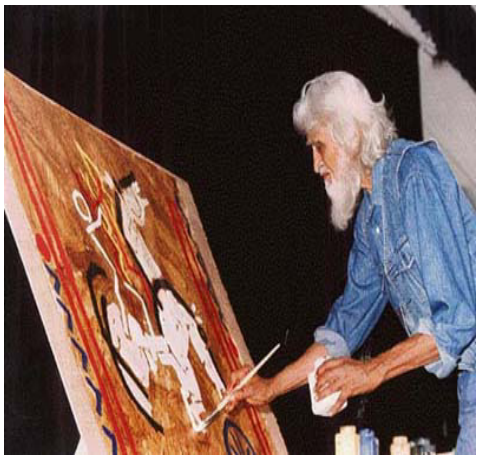

उनकी तीखी आलोचना भी होती थी। धनाढ्य और असरदार महिलाओं से संबंध रखना भी हुसैन की शख्सियत का एक पहलू रहा। उनके आलोचकों का आरोप रहा कि हुसैन अपनी पेंटिंग बेचने के लिये खुद को विवादों में रखना चाहते हैं।

हालांकि पेंटिंग ने हुसैन की पहचान बनाई लेकिन हुसैन को पेंटिंग से भी ज्यादा दिलचस्पी रही फिल्मों में। 1967 में उनकी बनाई एक प्रयोगात्मक फिल्म 'थ्रू द आइज ऑफ अ पेंटर' ने उन्हें अंतरराष्ट्रीय शोहरत दिलवायी। इसके बाद हुसैन ने दस से अधिक प्रयोगात्मक फिल्में बनाई। जिसके बारे में कम ही लोग जानते हैं, लेकिन जब उन्होंने माधुरी दीक्षित को लेकर गजगामिनी बनाई तो लंबे समय तक चर्चाओं के झंझावत से घिर रहे। तब्बू और कुनाल कपूर अभिनीत

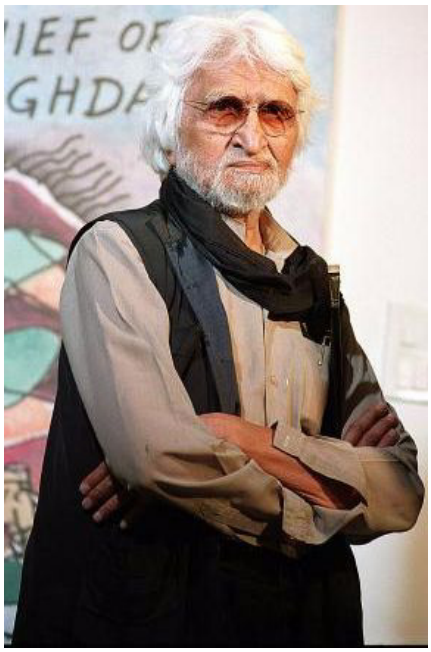

'मीनाक्षी' उनकी अंतिम फिल्म थी। उसके बाद वे उर्मिला मातोंडकर को लेकर एक कामेडी फिल्म भी बनाना चाहते थे।

पेंटिंग और फिल्म के अलावा लेखन भी हुसैन का प्रतिभा का एक हिस्सा था। उनकी आत्मकथा 'एम एफ हुसैन की कहानी : अपनी जबानी' अपनी शैली और प्रवाह के लिये हिंदी में बेमिसाल आत्मकथा के रूप में स्वीकारी गयी।

साल 1996 में हुसैन की पेंटिंग्स पर हिंदू देवी-देवताओं को अपमानित करने का आरोप लगा और एक सुनियोजित मुहिम के जरिये पूरे देश में हुसैन के खिलाफ ऐसा माहौल बनाया गया कि कई स्थानों पर हुसैन की पेंटिंग जलायी गईं, उनके पक्ष में बोलने वालों के साथ दुर्व्यवहार किया गया। 1970 के आसपास बनाए गए एक चित्र में हुसैन ने भारतमाता की कल्पना एक ऐसी उदास स्त्री के रूप में की थी, जो छली गई है।जाहिर है, ये व्यवस्था पर एक कड़ी टिप्पणी थी। 25 साल तक किसी ने आपत्ति नहीं की। लेकिन 1996 में इसे मुद्दा बना दिया गया। कहा गया कि उन्होंने भारत माता का नग्न चित्रण किया है। उनके कुछ और चित्रों में दर्शायी गयी सरस्वती, सीता और दुर्गा की आकृतियों को लेकर हुसैन पर आरोप लगा कि उन्होंने हिंदुओं की भावनाएं भड़काने वाले चित्र बनाए हैं। इन सबको लेकर हुसैन के खिलाफ देश भर में करीब 1000 मुकदमे दर्ज कराए गए।

हुसैन पर बढ़ते खतरे के माहौल में भी हुसैन ने सरकार से कभी पुलिस सुरक्षा नहीं मांगी। उन्होंने यह अच्छा ही किया अन्यथा जिस दिन कमांडोज से घिरे हुसैन सड़कों पर नजर आते, वह दिन भारतीय कला जगत का काला दिन होता। फिर हुसैन निर्वासित जीवन बिताने पर मजबूर हो गए। दो साल पहले उन्होंने दुबई की नागरिकता ले ली और अपना ज्यादातर समय दुबई और लंदन में बिता रहे थे। 96 साल की उम्र में भी ऊर्जावान, गतिशील और जिंदादिल इंसान के रूप में।

जीएफ-2, प्लाट न.-3, सेक्टर-1, वैशाली, गाजियाबाद (उ.प्र.)-201010, फोन : 9871697241

आतंकवाद : अमेरिका और पाकिस्तान की संधि रेखा

अनंत विजय

दो मई की सुबह दुनिया के सबसे खूंखार आतंकवादी ओसामा बिन लादेन को पाकिस्तान के एबटाबाद में मार गिराया गया। मारे जाने के कुछ ही देर बाद यह बात साफ हो गई कि पाकिस्तान में पांच सालों से पनाह लेकर रह रहे लादेन को उसी के घर में घुसकर अमेरिकी नेवी सील्स ने गोलियों से छलनी कर दिया। दुनिया को अपनी आतंकवादी गतिविधियों से दहलाने वाले संगठन अल कायदा का सुप्रीमो पाकिस्तान के सैन्य शहर एबटाबाद में एक ऐसे कमरे में रह रहा था, जिसमें कोई भी खिड़की नहीं थी, यानी विश्व में आतंक का अंधेरा फैलाने का मंसूबा पाले यह शख्स अंधेरे में ही मौत के मुंह में चला गया। पाकिस्तान का यह शहर एबटाबाद मुल्क की राजधानी इस्लामाबाद से सिर्फ 60 किलोमीटर दूर है। दुनिया का यह सबसे खतरनाक आतंकवादी, जिसने सैंकड़ों मानव बम तैयार किए और अपनी शातिर और शैतानी चालों से दुनिया के सबसे शक्तिशाली देश अमेरिका की नाक में दम किए था, आखिरकार सील्स के हत्थे चढ़ गया। अमेरिकी नेवी सील्स का यह खतरनाक–किल लादेन मिशन–इतना खुफिया था कि हमले और फिर अमेरिकी सैनिकों के निकल जाने तक पाकिस्तान को इस कार्रवाई की भनक तक नहीं लगी। लादेन की मौत के साथ ही आतंक का पाकिस्तान कनेक्शन एक बार फिर से दुनिया के सामने उजागर हो गया। यह भी साफ हो गया कि लादेन एबटाबाद में पिछले पांच सालों से सिर छुपाकर रह रहा था और पाकिस्तान दुनिया के सामने आतंक के खिलाफ बयानबाजी का दंभ भर रहा था। दरअसल जब भी अमेरिकी खुफिया एजेंसी लादेन के करीब पहुंचती, पाकिस्तान की बदनाम खुफिया एजेंसी आईएसआई को उसकी लोकेशन के बारे में बताती, ये जानकारी लीक होकर लादेन के पास पहुंच जाती और वो जगह बदल लेता। इससे सतर्क होकर इस बार अमेरिका ने नई चाल चली और बिना पाकिस्तान को बताए, उसके ही घर में घुसकर ओसामा को मार गिराया। कार्रवाई के चंद घंटे बाद अमेरिका के राष्ट्रपति बराक ओबामा ने पूरी दुनिया के सामने ये ऐलान किया कि आतंक का आका मारा जा चुका है।

पाकिस्तान में लादेन के मारे जाने के बाद अगर हम कई ऐतिहासिक तथ्यों को जोड़ें तो उस मुल्क की एक बेहद दिलचस्प तस्वीर बनती है। जिस आतंक के आका लादेन को पाकिस्तान ने अपनी सरजमीं पर पनाह दी, वो वहीं मारा गया। पाकिस्तान की पूर्व प्रधानमंत्री और पाकिस्तान पीपल्स पार्टी की मुखिया बेनजीर भुट्टो, जिसके शासनकाल में तालिबान और अन्य कट्टरपंथी संगठन फले-फूले, वही उनकी मौत की वजह बने। मुस्लिम लीग के नेता और पूर्व प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने जिस मोहाजिर परवेज मुशर्रफ को कमजोर समझकर सेना की कमान सौंपी, उसी मुशर्रफ ने नवाज शरीफ का तख्ता पलट दिया। जिस परवेज मुशर्रफ ने खूंखार आतंकवादी इलयास कश्मीरी को सम्मानित किया, उसी के संगठन ने मुशर्रफ को जान से मारने की नाकाम साजिश रची और उन पर कई बार हमला करवाया। यह बात सिर्फ पाकिस्तान पर ही लागू नहीं होती। जिस अमेरिका ने अपनी खुफिया एजेंसी के माध्यम से अफगानिस्तान में सोवियत रूस की लाल सेना को परास्त करने के लिए ओसामा बिन लादेन को आईएसआई की मदद से खड़ा किया, उसी ने अमेरिका में घुसकर वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को नेस्तनाबूद कर दिया।

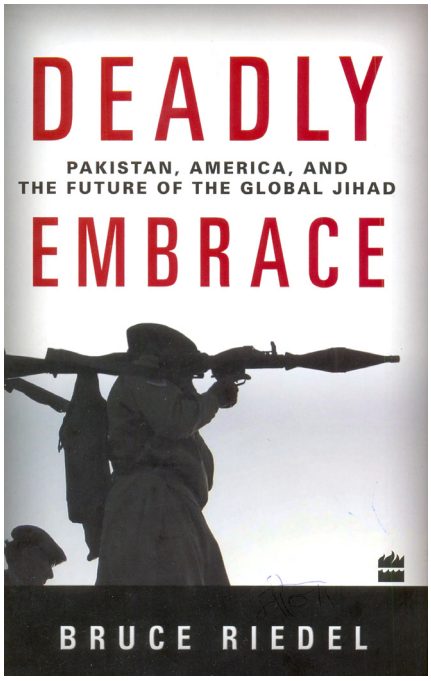

इन बातों को ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में सिलसिलेवार विस्तार देते हुए सीआईए के पूर्व अफसर ब्रूस रीड्ल ने अपनी नई किताब 'डेडली एमबैरेस-पाकिस्तान, अमेरिका एंड द फ्यूचर ऑफ ग्लोबल जेहाद' में दुनिया के सामने पेश किया है। ब्रूस रीड्ल फिलहाल ब्रुकिंग इंस्टीट्यूशन के विदेश नीति विभाग में सीनियर फेलो हैं। ब्रूस रीड्ल अमेरिकी खुफिया एजेंसी सीआईए के बड़े अधिकारी रहे हैं। उन्हें वहां के चार राष्ट्रपतियों के साथ काम करने का मौका मिला है। व्हाइट हाउस के अपने लंबे कार्यकाल में ब्रूस रीड्ल अमेरिकी राष्ट्रपतियों को मिडिल ईस्ट, दक्षिण एशिया और खासतौर पर पाकिस्तान से जुड़े मसलों पर सलाह देते रहे हैं। व्हाइट हाउस से कार्यमुक्त होने के बाद राष्ट्रपति चुनाव के दौरान ब्रूस ने

ओबामा को कई मुद्दों पर अहम सलाह दी और उनकी कोर टीम के हिस्सा रहे। ओबामा की अफ-पाक नीति के वो सूत्रधार भी रहे हैं। इसके पहले भी अपनी किताब 'द सर्च फॉर अल कायदा–इट्स लीडरशिप, आयडियोलॉजी और फ्यूचर' में उन्होंने अल कायदा के विचारों और सिद्धांतों को परखा था। इस किताब में ब्रूस ने शिद्दत के साथ तथ्यों के आधार पर इस बात को साबित किया है कि दशकों से अमेरिका और पाकिस्तान के बेहद नजदीकी सामरिक और राजनीतिक रिश्ते रहे हैं। इस किताब में ब्रूस ने इस बात की भी पड़ताल की है कि किन वजहों से अमेरिकी शासकों ने पाकिस्तान में लोकतांत्रिक ढंग से चुनी सरकारों को अहमियत नहीं दी ओर सैन्य तानाशाहों को बढ़ावा दिया। साथ ही उन वजहों पर भी रोशनी डाली गई है कि किन कारणों से अमेरिका ने इस्लामी कट्टरपंथियों को पर्दे के पीछे से हर तरह की मदद की। यह बात तो अब सार्वजनिक रूप से विदित है कि अफगानिस्तान में रूस की लाल सेना को परेशान और परास्त कराने के लिए इस्लामी कट्टरपंथियों का सहारा लिया गया था। यही कट्टरपंथी बाद में अमेरिका के गले की हड्डी बन गए। इससे भी अहम बात, जो इस किताब में सामने आती है, वो यह है कि ब्रूस ने जोर देकर इस बात को साबित किया है कि पाकिस्तान आतंक का अगुआ बन चुका है और मानवता के दुश्मनों को वहां पनाह मिलती है।

ग्लोबल जेहाद में पाकिस्तान की खतरनाक भूमिका की शुरुआत ब्रूस रूसी सेना के अफगानिस्तान में हमले से मानते हैं। ग्लोबल जेहाद को ब्रूस रीड्ल ने फिलिस्तीन के अब्दुल्ला यूसुफ मुस्तफा आजम के दिमाग की उपज बताया है। अब्दुल्ला यूसुफ मुस्तफा आजम के बारे में माना जाता है कि उसने ही ओसामा बिन लादेन को ग्लोबल जेहाद के लिए उकसाया और तैयार किया। ओसामा ने जब जेहाद की शुरुआत की तो उसे सबसे सुरक्षित राष्ट्र पाकिस्तान ही लगा। वहां की राजनैतिक अस्थिरता जेहादियों के लिए माकूल जमीन मुहैया कराने लायक समझी गई। ओसामा ने पाकिस्तान में सक्रिय इस्लामी कट्टरपंथियों से हाथ मिला लिया और पाकिस्तानी तालिबान और लश्कर ए तोयबा उसके स्वाभाविक साझीदार के तौर पर उभरकर सामने आए। आतंक और आतंकवाद को प्रश्रय देता रहा पाकिस्तान आतंक की इस दलदल में बुरी तरह फंस गया है। दुनियाभर के आतंकी संगठनों के मुख्यालय या तो पाकिस्तान में हैं या फिर खूंखार दहशतगर्द वहां शरण लिए बैठे हैं। नतीजा यह हुआ है कि मजबूत राजनैतिक नेतृत्व के अभाव में एक पूरा राष्ट्र ही तबाही के कगार पर पहुंच चुका है।

ब्रूस ने अपनी इस किताब में पाकिस्तान के एक राष्ट्र बनने से शुरुआत की है। उसने इस ऐतिहासिक तथ्य को दुहराया है कि पाकिस्तान का आइडिया 1930 में केम नदी के किनारे कैंब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र रहे चौधरी रहमत अली का था। ब्रूस ने 1933 में रहमत अली के लिखे एक पर्चे को इसका आधार बनाया है, जिसका शीर्षक था–'नाऊ ऑर नेवर', लेकिन बाद में मोहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के बड़े पैरोकार के तौर पर उभरे और पाकिस्तान बनने के बाद उन्हें बाबा-ए-कॉम (फादर ऑफ द नेशन) या कायदे आजम (द ग्रेट लीडर) का दर्जा हासिल हुआ। जिन्ना धर्म के आधार पर पाकिस्तान बनाने में तो कामयाब हो गए, लेकिन उसे एक कट्टर राष्ट्र के रूप में नहीं देखना चाहते थे। जिन्ना के मशहूर जीवनीकार स्टेनले वोलपर्ट ने जिन्ना के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए यह बताया था कि उन्होंने धर्म के नाम पर राष्ट्र का निर्माण किया, लेकिन वे करीब-करीब नास्तिक थे। वे जमकर शराब पीते थे, दिन भर में पचासों सिगरेट फूंक डालते थे और शान-ओ-शौकत की जिंदगी बसर करते थे। स्टेनले वोलपर्ट ने अपनी किताब में दावा किया है कि जिन्ना ने अपनी जिंदगी में कभी भी एक टाई दोबारा नहीं पहनी। ब्रूस ने जिन्ना के बारे में टिप्पणी करते हुए एक बेहद दिलचस्प बात कही है। जिन्ना को पाकिस्तान बनाने की मुहिम में चुनाव हार चुके विंस्टन चर्चिल का जबरदस्त समर्थन हासिल था। हिंदुस्तान को आजादी नहीं देने के हक में रहे चर्चिल ने चुनाव हारने के बाद यह मंसूबा पाला था कि अगर भारत को आजादी मिलती है तो उसका बंटवारा भी हो। ब्रूस कहते हैं कि अगर जिन्ना पाकिस्तान के फादर ऑफ द नेशन थे तो चर्चिल अंकल ऑफ दे नेशन।

ब्रूस रीड्ल की यह किताब भारत के लिए अहम है, क्योंकि इसमें भारत के रुख का समर्थन है। पिछले तकरीबन बीस साल से भारत आतंकवाद को लेकर जो भी आरोप पाकिस्तान पर लगा रहा है, वह इस किताब में प्रामाणिक रूप से सामने आता है। प्रामाणिक इस वजह से, क्योंकि पुस्तक का लेखक पिछले दो-तीन दशक अमेरिकी प्रशासन के शीर्ष पद पर बैठे व्यक्ति से जुड़ा रहा है। इस किताब में कई तथ्य और सबूत इस बात की चीख-चीखकर गवाही दे रहे हैं कि पाकिस्तान सालों से भारत में जारी आतंकवादी गतिविधियों को न सिर्फ हवा दे रहा है, बल्कि उसकी खुफिया एजेंसी आईएसआई सक्रिय तौर पर परोक्ष रूप से समर्थन भी दे रही है। इसके अलावा जो एक महत्त्वपूर्ण बात इस किताब में सामने आती है, वह यह कि पाकिस्तान की इन नापाक हरकतों से अमेरिका पूरी तरह से अवगत था, लेकिन सार्वजनिक रूप से उसने यह बात तब स्वीकार की, जब उसे आईएसआई और अल कायदा के रिश्तों के बारे में जानकारी मिली।

अपनी इस किताब में ब्रूस ने तथ्यों और कूटनीतिक चालों के आधार पर पूरी तौर पर यह साबित कर दिया है कि इस वक्त जेहाद एक वैश्विक समस्या है, जिसका केंद्र पाकिस्तान में है। इस वैश्विक जेहाद का भविष्य पाकिस्तान और उसके रुख से जुड़ा है। इस वैश्विक जेहाद पर काबू करने में न केवल पाकिस्तान, बल्कि अमेरिका की भी अहम भूमिका है। अमेरिका की भूमिका इस वजह से है कि उसे पाकिस्तान में लोकतांत्रिक तरीके से चुनी सरकार को सैन्य और आर्थिक, हर तरह का समर्थन देना होगा। इस समर्थन का नतीजा यह होगा कि पाकिस्तान में राजनैतिक स्थिरता आएगी और सरकारें बेखौफ होकर आतंकवाद पर काबू पाने की दिशा में कदम उठा सकेंगी। यह न सिर्फ पाकिस्तान के हित में होगा, बल्कि इससे अमेरिका और अन्य देशों का भी भला होगा।

डेडली एमबैरेस–पाकिस्तान, अमेरिका एंड द फ्यूचर ऑफ ग्लोबल जेहाद / ब्रूस रीड्ल / प्रकाशक : हॉर्पर कॉलिंस, ए-53, सेक्टर-57, नोएडा, उत्तर प्रदेश, मूल्य : ₹ 499

222, रॉयल टावर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, (उत्तर प्रदेश)-201014, मो. : 09871697248 ईमेल : anant.ibn@gmail.com

---